दलित राजनीति की समस्याएँ

मेरे विचार से इस देश के दो दुश्मनों से कामगारों को निपटना होगा। ये दो दुश्मन हैं, ब्राह्मणवाद और पूँजीवाद ...। ब्राह्मणवाद से मेरा आशय स्वतंत्रता, समता और बंधुत्व की भावनाओं के निषेध से है। यद्यपि ब्राह्मण इसके जनक हैं, लेकिन यह ब्राह्मणों तक ही सीमित नहीं होकर सभी जातियों में घुसा हुआ है। - डॉ. अंबेडकर

1. स्थिति और संदर्भ : राजनीति क्या है

i. दलित एक विशुद्ध भारतीय स्थिति है और इसीलिए `दलित राजनीति की समस्या' अपने मूल चरित्र में बिल्कुल भारतीय यथार्थ है। दलित का अर्थ और अभिप्राय सिर्फ भारतीय संदर्भ से हासिल किये जा सकते हैं। दलित समस्याओं से मिलती-जुलती समस्याएँ अन्य समाजों में भी हो सकती है, लेकिन उन पर प्रसंगवश ही चर्चा की जा सकती है। उनके साथ दलित समस्याओं को समीकृत करना समस्या के मूल से भटकाव की आशंकाओं को सघन करता है। कहना न होगा कि यह भटकाव मूल समस्या को उलझाव में डाल देता है और उसके चरित्र को समझने में बाधा उत्पन्न करता है। ऐसा कई बार शरारतन किया जाता है, तो कई बार अनजाने ही हम उस उलझन में फँस जाते हैं। कोशिश की जा सकती है कि उलझाव और भटकाव के ऐसे संदर्भों से बचा जाये। भारत बहुत बड़ा देश है, भौगोलिक रूप से ही नहीं, सामाजिक-सांस्कृतिक दृष्टि से भी इतना वैविध्य है कि कई बार इसके देश नहीं `महादेश' होने का भ्रम होता है। `महादेश' न हो, तो भी इतना तो है कि कोई भी `भारतीय स्थिति' अपनी सामाजिकता में एकार्थी नहीं हो सकती है और न पूरे भारत पर एक ही अर्थ में लागू हो सकती है। उत्तर और दक्षिण भारत की या फिर पूर्व और पूर्वोत्तर की `दलित राजनीति' से हिंदी क्षेत्र की दलित राजनीति भिन्न हो सकती है। इस भिन्नता के कारण वहाँ की सामाजिक-आर्थिक संरचना, समकालीन राजनीतिक, सांस्कृतिक स्थिति आदि में निहित हैं। कहना न होगा कि `दलित राजनीति की समस्या'

का अपना क्षेत्रीय प्रसंग भी है। जाहिर है कि `दलित राजनीति की समस्या' पर विचार करते हुए यहाँ व्यापक और सामान्य नजरिया ही अपनाना बेहतर होगा। विशिष्ट क्षेत्र की `दलित राजनीति की समस्या' पर केंद्रित अध्ययन में विशिष्ट नजरिया अपनाया जा सकता है।

ii. राजनीति मूलतः `सत्ता-विमर्श' है। जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में `सत्ता' की व्याप्ति होती है। यह व्याप्ति कई बार दृश्य होती है, तो कई बार अदृश्य भी रहती है। दृश्य हो या अदृश्य किंतु `सत्ता' की उपस्थिति वहाँ होती जरूर है। तात्पर्य यह कि सत्ता राजनीति का केंद्रीय विधान है। कहना न होगा कि राजनीतिक आंदोलन का मकसद `सत्ता की संरचना' में परिवर्त्तन कर `समाज की संरचना' में परिवर्त्तन करना होता है और सामाजिक आंदोलन का मकसद `सामाजिक संरचना' में परिवर्त्तन कर `सत्ता की संरचना' में परिवर्त्तन करना होता है। दोनों एक दूसरे के पूरक भी हैं और एक दूसरे से टकराते भी हैं। यहीं पर यह स्मरण कर लेना जरूरी है कि `सत्ता' का मतलब होता है, इच्छित परिणाम पाने की क्षमता। `इच्छा' क्या है, और यह भी कि इच्छा का निर्माण कैसे होता है, इस पर ध्यान देना जरूरी है। `इच्छा' उपलब्ध विकल्पों में से किसी एक विकल्प के चयन में अभिव्यक्त होती है। विकल्पों का चयन प्राथमिक रूप से आर्थिक और उसके साथ-साथ सांस्कृतिक, सामाजिक, ऐतिहासिक, भौतिक आदि कारणों पर, अर्थात `जीवन-स्थितियों' पर निर्भर करता है। इस प्रसंग में, यह भी ध्यान में रखने की जरूरत है कि आर्थिक आधार को विकसित करने के भी कई विकल्प हो सकते हैं। इन विकल्पों में से किसी एक के चयन का आधार प्रमुख रूप से आर्थिक स्थिति ही मुहय्या कराती है। बच्चा स्कूल जाने के `काम' के बदले स्कूल के सामने की चाय दूकान में प्याला धोने का `काम' चुनता है, तो `विकल्प के इस चयन' में उसकी `जीवन-स्थितियों' की भूमिका को समझना मुश्किल काम नहीं है। इस चयन से भी `जीवन-स्थितियाँ' बदलती है। `स्कूल जानेवाला बच्चा' `प्याला धोनेवाले बच्चे' से अधिक सामाजिक सम्मान की दृष्टि से देखा जाता है। इन्हें परस्पर जुड़ी कड़ियों के रूप में समझा जा सकता है। `समझने के बाद' हमारे पास भी कई विकल्प होते हैं -- बच्चा के माता-

पिता, को भला-बुरा कहना, दूकानदार को फटकारना, व्यवस्था को दोष देना, तत्काल कुछ व्यवस्था करना या कुल्हा मटकाकर चल देना -- जिनमें से हम अपनी `जीवन-स्थितियों' के अनुसार चुनते हैं। कहना न होगा कि `जीवन-स्थितियों' में `व्यक्तित्व के गुण' शामिल है। तात्पर्य यह कि `जीवन-स्थितियों' की सामाजिकता और राजनीति से `अर्थ' का गहरा संबंध है।

iii. सत्ता का सबसे अधिक सुपरिभाषित, स्वीकृत और प्रभावी रूप `अर्थ' होता है। कहना न होगा कि `इच्छा'ओर `विकल्पों' के चयन की `स्वतंत्रता' का अधिकार और `इच्छित परिणाम' पाने का सीधा संबंध `अर्थ' से है। `अर्थ' का प्रवाह `रोजगार' से होता है। बीसवीं सदी का बीज शब्द था `स्वतंत्रता' और इक्कीसवीं सदी का बीज शब्द है `रोजगार'। `मानव विकास का महत्त्वपूर्ण आधार है -- आजीविका। अधिकतर लोगों के लिए इसका अर्थ है, रोजगार। लेकिन, परेशान करनेवाला तथ्य यह है कि औद्योगिक और विकासशील देशों की आर्थिक वृद्धि से रोजगार के पर्याप्त अवसर नहीं बन पा रहे हैं। इसके अलावे आजीविका से बंचित रह जाने की स्थिति, रोजगारविहीन लोगों की योग्यताओं के विकास, महत्त्व और आत्मसम्मान को भी नष्ट कर देती है। ... तेजी से आर्थिक वृद्धि कर रही अर्थव्यवस्था में भी रोजगार के पर्याप्त अवसर नहीं बन रहे हैं।'[1] `राजनीति' का संबंध `सत्ता' के अर्जन की `स्वतंत्रता' से है। `स्वतंत्रता' का संबंध `रोजगार' और रोजगार के `उपलब्ध विकल्पों' में से किसी विकल्प को चुनने की स्वतंत्रता ओर आधिकारिकता से है। मतलब यह कि `राजनीति' का संबंध `स्वतंत्रता' और `स्वतंत्रता' का संबंध `रोजगार' से है। राजनीति को समझने के लिए रोजगार के रूप और प्रकार पर ध्यान देना जरूरी है। रोजगार उत्पादन के बाद वस्तु के बढ़े हुए महत्त्व के कारण उसकी कीमत में हुई बढ़ोत्तरी से उत्पन्न होता है। कीमत में बढ़ोत्तरी का संबंध `बाजार' और `इजारेदारी' से होता है। बढ़ी हुई कीमत के कारण प्राप्त अतिरिक्त धन के वितरण में सम्यक संतुलन के अभाव से धन एक जगह जमा होने लगता है। यह धन `पूँजी' में बदल जाता है और फिर `अतिरिक्त धन' का सृजन करता है। जो व्यवस्था वितरण के सम्यक संतुलन में अभाव उत्पन्न करने की पद्धतियों को

अपनाती है, समाज के हाथ के बदले व्यक्ति के हाथ में अतिरिक्त धन के जमाव और उसके पूँजी में अंतरण को अपना लक्ष्य बनाती है, वह व्यवस्था `पूँजीवादी व्यवस्था' कहलाती है।

iv. `पूँजीवाद' का जन्म अतिरिक्त-धन के सम्यक वितरण में असंतुलन से होता है और यह असंतुलन अंततः सामाजिक विषमता में परिणत होता है। सम्यक वितरण के अभाव से उत्पन्न असंतुलन का दुष्प्रभाव पूँजीवाद की कतिपय विकृतियों में अभिव्यक्त होता है। `सामाजिक विषमता' पूँजीवाद से पैदा होती है और पूँजीवाद को पोसती है। `सामाजिक विषमता' का यह मुख्य कारण है। मुख्य कारण मानने से ही यह बात स्पष्ट है कि कारण अन्य भी हैं। इन `अन्य' कारणों को भी समझना बहुत जरूरी है, खासकर भारतीय परिप्रेक्ष्य में इन्हें समझना बहुत जरूरी है। भारतीय परिप्रेक्ष्य में `धन की अतिरिक्ता' के जमाव का मुख्य रूप से हिंदू धर्म के ब्राह्मणवादी गर्भ से निकले जातिवाद की सामाजिक पदानुक्रमता से और इसीलिए सामाजिक विषमता से भी गहरा रिश्ता है। कहना न होगा कि विषमताओं को प्रोत्साहन `पूँजीवाद' से तो मिलता ही है, भारतीय परिप्रेक्ष्य में यह प्रोत्साहन `ब्रह्मणवाद से व्युत्पन्न जातिवाद' से भी मिलता है। एक बात और जिस पर हमारा ध्यान सहज ही नहीं जा पाता है -- पुराने समय का `ब्राह्मणवाद' ही आज के समय में अपने को `हिंदुत्व' के रूप में अभिव्यक्त कर रहा है। ध्यान रखना चाहिए कि `हिंदुत्व' धर्म नहीं धर्म पर आधारित एक राजनीतिक विचारधरा है। `हिंदुत्व' को विषमता पोषक चरित्र धर्म के विषमताकारी चरित्र से विरासत में मिला है। ऐसी हालत में किसी भी कारण से और किसी भी आधार पर गठित `जातिवाद' की प्रेरणाएँ `हिंदुत्व' के किसी भी रूप से निर्णायक लड़ाई नहीं लड़ सकती है। बल्कि कहना यह चाहिए कि `जातिवाद' की राजनतिक सिद्धांतिकी अंततः `हिंदुत्व' की ही सेवा करती है। `पूँजीवाद' अपने मूल चरित्र में ही सामाजिक-विषमताओं को बढ़ावा देनेवाला होता है, इसलिए ऐसी कोई भी सिद्धांतिकी जो सामाजिक-विषमताओं को किसी भी रूप में बढ़ावा देती है उसकी मित्र सिद्धांतिकी ही होती है। स्वाभाविक ही है कि `पूँजीवाद की सिद्धांतिकी' अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर `धर्म' की और राष्ट्रीय

स्तर पर `हिंदुत्व' की सिद्धांतिकी से अपना गठबंधन करती है। इस गठबंधन को `धर्म' और `बाजार' के संश्रय में पढ़ा जा सकता है।

v. `स्वतंत्रता, समता और बंधुत्व' की आकांक्षा रखनेवाली किसी भी सिद्धांतिकी को भारतीय परिप्रेक्ष्य की विशिष्टता के कारण `पूँजीवाद और हिंदुत्व' से एक साथ लड़ना पड़ेगा। अलग-अलग नहीं। डॉ अंबेडकर के विचार महत्त्वपूर्ण हैं, `मेरे विचार से इस देश के दो दुश्मनों से कामगारों को निपटना होगा। ये दो दुश्मन हैं, ब्राह्मणवाद और पूँजीवाद ...। ब्राह्मणवाद से मेरा आशय स्वतंत्रता, समता और बंधुत्व की भावनाओं के निषेध से है। यद्यपि ब्राह्मण इसके जनक हैं, लेकिन यह ब्राह्मणों तक ही सीमित नहीं होकर सभी जातियों में घुसा हुआ है।'[2]`दलित राजनीति' की समस्या यह भी है कि इस `एक साथ' लड़ने की जरूरत को समझते हुए भी यह इसे अपने राजनीतिक बरताव में अपना नहीं पाती है।

vi. `दलित राजीनीति' की समस्याओं को समझने के लिए यह एक महत्त्वपूर्ण सूत्र है। इसे खोलें तो कुछ बातें समझ में आती हैं (I) देश के दो दुश्मन हैं -- ब्राह्मणवाद और पूँजीवाद। ये दोनों अंतर्गुंफित[3] हैं। ये ऊपर से दो दिखते हैं, लेकिन असल में एक ही हैं, इसलिए इन से एक साथ निपटना होगा। (II) `ब्राह्मणवाद' के जनक ब्राह्मण हैं, लेकिन यह ब्राह्मणों तक सीमित नहीं है, यह सभी जातियों में घुसा हुआ है -- दलितों में भी यह घुसा हुआ हो सकता है। इस मुहिम का लक्ष्य सिर्फ `ब्राह्मण' ही नहीं हो सकते हैं। (III) इनसे कामगार ही निपट सकता है। संसदीय राजनीति, बुद्धिजीवी आदि इसमें सहायक तो हो सकते हैं, लेकिन निपटना तो कामगारों को ही होगा। इसके लिए कामगारों को संगठित होना होगा। कामगारों को ऐसे संगठनों का लक्ष्य सिर्फ रोजी-रोटी से सीधे जुड़े सवालों को ही नहीं `ब्राह्मणवाद' से निपटने से जुडे सवाल को भी अपने एजेंडा में स्पष्ट तौर पर शामिल करना होगा। (IV) `ब्रह्मणवाद' से लड़ने का मतलब, स्वतंत्रता, समता और बंधुत्व की भावनाओं के निषेध से लड़ना है, अर्थात स्वतंत्रता, समता और बंधुत्व की बहाली करना है।

vii. सर्वविदित ही है कि `स्वतंत्रता, समता, बंधुत्व' की सामाजिक आकांक्षा 1979 की `फ्राँसिसी क्रांति' के दौरान एक विशेष राजनीतिक संदर्भ में अपनी पूरी ताकत के साथ उभर

कर सामने आई थी। बाद के दिनों में ये आकांक्षाएँ उस राजनीतिक संदर्भ से विच्छिन्न हो गयी तो इसका मतलब यह नहीं कि ये आकांक्षाएँ पूरी या बेमानी हो गई। इसका सीधा-सा मतलब यह है कि इन आकांक्षाओं को उभारनेवाली राजनीतिक शक्ति को उसमें अपने लिए कोई लाभजनक स्थिति नहीं दिख रही थी। यह अवसर तो `फ्राँसिसी क्रांति' के `पहले और बाद' के मूल्यांकन का नहीं है, लेकिन यह देखने का अवसर जरूर है कि `दलित राजनीति' के संदर्भ में `स्वतंत्रता, समता, बंधुत्व' का कुछ अपना अलग और विशिष्ट अर्थ भी है। `दलित राजनीति' के संदर्भ में इस विशिष्टता को ठीक से स्थिर नहीं कर पाना `दलित राजनीति' की कतिपय समस्याओं के मूल में हो सकता है। डॉ. अंबेडकर के मंतव्य का अर्थ समझने के लिए `दलित राजनीति' के ऐतिहासिक संदर्भ को याद कर लेना जरूरी है।

2. दलित राजनीति का ऐतिहासिक संदर्भ

i. `दलित राजनीति' समस्याओं को समझने के लिए इसके ऐतिहासिक संदर्भ को समझना जरूरी है। ऐतिहासिक संदर्भ में यह देखने की भी खास जरूरत है कि `दलित राजनीति' की समस्याओं का कितना संबंध इतिहास से है और कितना संबंध `मुख्यधारा की राजनीति' की अंतर्बाधाओं से है। ऐतिहासिक संदर्भ में देखा जाये तो, आधुनिक अर्थ में भारतीय राजनीति की शुरूआत अंग्रेजों के औपनिवेशिक वर्चस्व से बाहर निकलने की छटपटाहट के साथ शुरू हुई और उसी छटपटाहट की की मति-गति से जुड़ी रही। `अंग्रेजों के औपनिवेशिक वर्चस्व' से कौन-सा दुख जनमा था, यह एक बार ध्यान में लाने की जरूरत है। वह दुख था धन के विदेश चले जाने का दुख -- `अंग्रेज राज सुख साज सजे सब भारी, पै धन विदेश चलि जात इहै अति ख्वारी'[4]। किसका धन ? इस धन में दलितों की साझीदारी कितनी थी ? अगर `बहुत' नहीं थी तो `धन के विदेश चले जाने' का `बहुत' दुख दलितों को क्यों होना चाहिए था ? आजादी के आंदोलन के दौरान `आजादी' का क्या अर्थ बन रहा था, इसे ठीक से नहीं समझा जाये तो `दलित राजनीति' का आजादी के आंदोलन से कैसा संबंध हो सकता था, इसका अनुमान भी सहज ही नहीं लगाया जा सकता है।

ii. `दलित राजनीति की समस्याओं' को समझने के लिए आजादी के आंदोलन की मुख्यधारा से `दलित राजनीति' के द्वंद्वात्मक रिश्ते की ऐतिहासिकता को कोरी भावुकता से ऊपर उठकर समझना जरूरी है। आजादी के आंदोलन की मुख्यधारा से `दलित राजनीति' के द्वंद्वात्मक रिश्ते में यह बात निहित थी कि `दलित राजनीति' का लक्ष्य अंग्रेजों के बाह्य औपनिवेशिक शक्ति से मुक्ति के साथ ही, वर्णव्यवस्था के वर्चस्व के साथ आंतरिक उपनिवेश को मजबूत करनेवाली शक्तियों के द्वारा निर्मित आजादी के आंदोलन की मुख्यधारा के भावुकतापूर्ण राष्ट्रवाद के प्रपंच से, अर्थात `आंतरिक उपनिवेश' से भी मुक्त होना था। आजादी के आंदोलन की मुख्यधारा सिर्फ बाहरी औपनिवेशिकता से लड़ रही थी, जबकि `दलित राजनीति' के सामने `आंतरिक औपनिवेशिकता' का सवाल अधिक मुखर था। तात्पर्य यह कि `आजादी के आंदोलन की मुख्यधारा' की तुलना में `दलित राजनीति' का संघर्ष दोहरा और अधिक पूर्ण होने के कारण कठिन भी था। जाहिर है कि `दलित राजनीति' का टकराव आजादी के आंदोलन की मुख्यधारा से भी होता था। मुख्यधारा की राजनीति दलितों के दुख के प्रति इतनी संवेदनशील नहीं थी कि वह इस टकराव की तह में जाकर इसके वास्तविक कारणों को समझती और इसके औचित्य का प्रतिपादन करती। मुख्यधारा की राजनीति उलटे `दलित राजनीति' पर मन से आजादी के आंदोलन की भागीदार नहीं बनने या रोड़ा अटकाने जैसे मिथ्या मनोभाव से ग्रस्त हो जाती थी।

iii. आजादी के आंदोलन की `मुख्यधारा' के न सिर्फ नैसर्गिक नेता थे गाँधी जी, बल्कि वे उसके प्रतीक पुरुष भी थे। `दलित राजनीति' और `मुख्यधारा' के अंतस्संबंध को जानने के लिए गाँधीजी के दृष्टिकोण को जानना आवश्यक है। गाँधीजी न सिर्फ महात्मा के रूप में जाने जाते हैं, बल्कि वे महात्मा थे भी। उनकी यह बद्धमूल धारणा थी कि `अस्पृश्यता जैसे ही खत्म होगी, स्वयं जाति प्रथा भी शुद्ध हो जायेगी, अर्थात मेरे स्वप्नों के अनुसार शुद्ध हो जायेगी। यह सच्ची वर्णाश्रम व्यवस्था बन जायेगी, जिसके अंतर्गत समाज चार भागों में विभाजित होगा और प्रत्येक भाग एक दूसरे का पूरक होगा, कोई छोटा या बड़ा नहीं होगा। हिंदू धर्म के समग्र अंग के लिए प्रत्येक भाग समान रूप से आवश्यक होगा या एक भाग

उतना ही आवश्यक होगा जितना दूसरा।'[5] गाँधीजी की इस धारणा को थोड़ा खोलें तो कुछ बातें साफ होती हैं : (I) सच्ची `वर्ण व्यवस्था' अच्छी है। (II) इसके अंतर्गत समाज चार भागों में (श्रम के आधार पर) विभाजित होता है। (III) सच्ची `वर्ण व्यवस्था' के अंर्तगत ये चारो विभाग एक दूसरे से छोटे या बड़े नहीं होते, एक दूसरे के पूरक होते हैं। (IV) इन चारो विभागों के सदस्यों की सामाजिक समता का सवाल गाँधीजी की नजर से ओझल रहता है। (V) इन चारो विभागों के सदस्यों की आर्थिक समता का सवाल भी गाँधीजी की नजर से ओझल रहता है। (VI) गाँधीजी `वर्णव्यवस्था' को `हिंदू धर्म' का आंतरिक मामला मानते थे और इसकी `विकृतियों' को `सामाजिक-धार्मिक मामला' मानते हुए इन विकृतियों को `धर्म में निहित करुणा' के बल पर सामाजिक आंदोलन से दूर कर `सच्ची वर्णव्यवस्था' को कायम करना चाहते थे। (VII) गाँधीजी `दलित समस्या' को `राजनीति' से काटते थे तथा `धर्म' और `समाज' से जोड़ते थे। (VIII) `दलित समस्या' को `राजनीति' से काटने तथा `धर्म' और `समाज' से ज़ोड़ने के लिए गाँधीजी के द्वारा की गई `राजनीतिक कार्रवाइयों' का गाँधीजी के `महात्मापन' से गहरा संबंध है। (IX) गाँधीजी की इन मान्यताओं को `मुख्यधारा की राजनीति' से अनुमोदन और समर्थन प्राप्त था।

iv. इसका नतीजा यह था कि `मुख्यधारा की राजनीति' कं अंतर्मन में यह बात बनी हुई थी कि `दलित समस्या' का `राजनीतिक जनतांत्रिकता' से कोई सरोकार नहीं है। अतः राजनीतिक नेताओं को इससे दूर ही रहना चाहिए; इसका सरोकार `धर्म' से है अतः धार्मिक नेता, पंडा, पुजारी, संत, महात्मा को ही `दलित समस्या' पर कुछ सोचना और करना चाहिए। `दलित राजनीति' इन बातों से घोर असहमत थी। `दलित राजनीति' के अनुसार (I) `वर्ण व्यवस्था' अपने किसी भी रूप में अच्छी नहीं हो सकती है। (II) `वर्ण व्यवस्था' में `श्रम' का नहीं, जन्म के आधार पर `श्रमिकों' का विभाजन होता है। (III) `वर्ण व्यवस्था' के विभाग अनिवार्यतः एक दूसरे से बड़े या छोटे होते हैं, एक दूसरे के पूरक नहीं `स्वामी' या `सेवक' होते हैं। (IV) `दलित राजनीति' में सामाजिक समता मूल और मानवाधिकार का सवाल बनकर उभरता है। (V) `दलित राजनीति' मूल प्रश्न में निहित सामाजिक उलझावों में पड़कर

आर्थिक समता का सवाल पूरी तत्परता से नहीं उठा पाता है। हालाँकि मुख्यधारा की राजनीति भी आर्थिक समता का सवाल नहीं उठाती है। (VI) `दलित राजनीति' किसी भी रूप में `वर्णव्यवस्था' को `हिंदू धर्म' का आंतरिक मामला नहीं मानती थी। `धर्म में निहित करुणा' पर उसे कत्तई विश्वास नहीं था, वह `राजनीति में निहित अधिकार चेतना' को महत्त्व प्रदान करती थी। `वर्णव्यवस्था' के सभी रूपों को समूल उखाड फेकना चाहती थी। (VII) `दलित राजनीति' अपने `राजनीतिक एजेंडे' में `दलित समस्या' को पूरे आग्रह के साथ समेटती थी, `धर्म' और `समाज' से जोड़कर देखने का दौर सामाजिक आंदोलन के प्रथम चरण में पूरा हो चुका था। (VIII) `दलित समस्या' को `राजनीति' से काटने तथा `धर्म' और `समाज' से ज़ोड़ने के लिए गाँधीजी ने जो कार्रवाइयाँ की उन कार्रवाइयों को `दलित राजनीति' शंका की नजर से देखती थी। इसलिए गाँधीजी का `महात्मपन' `दलित राजनीति' को ढोंग सरीखा लगता था। (IX) `दलित राजनीति' की इन मान्यताओं को `मुख्यधारा की राजनीति' से अनुमोदन और समर्थन प्राप्त नहीं होता था। (X) `मुख्यधारा की राजनीति' से पूरी तरह असहमत होते हुए `दलित राजनीति' `दलित समस्या' को `राजनीतिक जनतांत्रिकता' के सरोकारों से जोड़ती थी और राष्ट्रीय स्तर के अपने राजनीतिक नेतृत्व के विकास की गहरी आकांक्षा रखती थी। `दलित राजनीति' धार्मिक नेता, पंडा, पुजारी, संत, महात्मा को `दलित समस्या' का कारण मानती थी और स्वभावतः इसके `निदान' के लिए उन पर जरा भी भरोसा नहीं करती थी।

v. इतिहास बताता है कि `गाँधीजी ने जान-बूझकर हरिजन आंदोलन को सामाजिक सुधार (हरिजनों के लिए सार्वजनिक कुओं, सड़कों, ओर विशेष रूप से मंदिरों को खुलवाना, साथ में मानवतावादी कार्य) तक सीमित रखा था (यद्यपि अनेक हरिजन खेतिहर मजदूर थे), साथ ही उन्होंने समग्र रूप से जाति-व्यवस्था की भर्त्सना करने से इनकार कर दिया। उन्होंने रोटी-बेटी के व्यवहार में सावधानी बरतने की सलाह दी और मूल वर्णाश्रम धर्म की हिमायत की, जिसका परिणाम यह हुआ कि अंबेडकर ने साप्ताहिक हरिजन के लिए यह कहते हुए संदेश देने से इनकार कर दिया कि ``जाति-व्यवस्था को नष्ट किए बिना अछूतों

का उद्धार संभव नहीं है''। [6] (देखें 2 का iii) याद रखना चाहिए कि `जुलाई 1933 और फरवरी 1934 के बीच थोड़े समय के लिए जब नेहरू जेल के बाहर रहे तबह्विदर इंडिया ? शीर्षक से प्रकाशित अपने पत्रों एवं लेखों में उन्होंने गाँधीजी से अपने सैद्धांतिक मतभेदों को स्पष्ट रूप से प्रस्तुत किया। उन्होंने `राष्ट्रीय लक्ष्यों को जुझारू सामाजिक एवं आर्थिक कार्यक्रमों के साथ जोड़ने की आवश्यकता पर बारंबार बल दिया और `हिंदू संप्रदायवाद की कड़ी आलोचना' की।[7] जाहिर है कि `आजादी के आंदोलन की मुख्यधारा' और `दलित राजनीति' में टकराव के कई बिंदु थे।

3. मुख्यधारा का भारतीय राष्ट्रवाद और दलित राजनीति

i. यह सच है कि मुख्यधारा के भारतीय राष्ट्रवाद का विकास आधुनिक चेतना के आग्रहों के अंतर्गत हुआ, लेकिन यह आधा सच है। भारतीय राष्ट्रवाद की आधुनिक चेतना ने न तो कभी आधुनिकता को पूरी तरह अपनाया न आाधुनिकता की परियोजनाओं को पूरा करने में ही कोई वास्तविक दिलचस्पी दिखलाई। इस राष्ट्रवाद के नायक महात्मा गाँधी थे, संभवत: इसी अर्थ में उन्हें `राष्ट्रपिता' कहा जाता है। गाँधीजी के राजनीतिक उपकरण मध्यकालीन चेतना से निर्मित थे -- महात्मा गाँधी की मूल्य-चेतना का शरणागति, करुणा, हृदय-परिवर्त्तन, धार्मिकता से जितना गहरा संबंध था उतना गहरा संबंध सामाजिक अंतनिर्भरताओं, अधिकारिकताओं, परिस्थति-परिवर्त्तन आदि से नहीं था। तात्पर्य यह कि `भारतीय आधुनिकताबोध' के ऊपर पूर्वआधुनिकताओं का बोझ पूरी तरह से लदा हुआ था। पूर्वआधुनिकताओं में जो कर्त्तव्य राजा के थे, उन कर्त्तव्यों को `मुख्यधारा के भारतीय राष्ट्रवाद के विकास की राजनीति' ने, अपनी तमाम सदाशयताओं के बावजूद, अपने राजनीतिक एजेंडे में स्वीकार लिया। राजा के कर्त्तव्य को देखें तो, `ईसा की दूसरी शताब्दी के अभिलेख बताते हैं कि राजा वर्णव्यवस्था का पोषक और संरक्षक है। इसके बाद राजा के इस कर्त्तव्य की चर्चा अभिलेखों में आम तौर पर होने लगी। कलियुग का सामाजिक संकट आरंभ होने के बाद राजा के इस दायित्व पर सबसे अधिक बल दिया जाने लगा। ईसा के बाद की तीसरी शताब्दी के अंतिम चतुर्थांश से चौथी शताब्दी के प्रथम चतुर्थांश के

पौराणिक पाठ्यांशों से पता चलता है कि आंतरिक संकट के कारण वर्णव्यवस्था बिखरने लगी। इस अवस्था को कलियुग की संज्ञा दी गई। कलि से लोगों का उद्धार करना राजा का पुनीत कर्त्तव्य बन गया। ईसा के बाद की 4-6 शताब्दियों के अभिलेखों में स्पष्ट रूप से और बाद के पुरा लेखों में पारंपरिक रूप से राजा को वर्णधर्म का पोषक बतलाया गया है।'[8] कहना न होगा कि `कलि से लोगों का उद्धार करना' वर्णव्यवस्था को बिखराव से बचाना है। जाहिर है कि महात्मा गाँधी जब `सच्ची वर्णव्यवस्था' की बात करते थे, तो उसके पीछे `राजा के कर्त्तव्य' को `मुख्याधारा के राष्ट्रवाद की राजनीति' के द्वारा आत्मार्पित करने की ऐतिहासिकता को `दलित राजनीति की समस्या' के संदर्भ में सचेत होकर पढ़ने की जरूरत है (देखें 2 का iii)।

ii. जवाहरलाल नेहरू यद्यपि सोच के स्तर पर गाँधीजी से सहमत नहीं थे, लेकिन अपनी असहमति के राजनीतिक बरताव का साहस या समझ कभी दिखा नहीं पाये। राष्ट्रीय लक्ष्यों को जुझारू सामाजिक एवं आर्थिक कार्यक्रमों के साथ जोड़ने की आवश्यकता पर बल देने और `हिंदू संप्रदायवाद की कड़ी आलोचना' करने के बावजूद नेहरूजी महात्मा गाँधी के हरिजन आंदोलन को भटकाव मानते थे, इसलिए नहीं कि गाँधीजी के हरिजन आंदोलन के औजार `हिंदू संप्रदायवाद' की वर्णवादी समझ से बने थे। `गाँधीजी के अन्य अनेक कार्यक्रमों की भांति उनके हरिजन आंदोलन के कार्यक्रमों में भी लक्ष्यों और महत्त्व को लेकर अनेक अस्पष्टताएँ देखने में आती हैं। जवाहरलाल जैसे जुझारू लोगों का विचार था कि यह कार्यक्रम साम्राज्यवाद-विरोधी संघर्ष के मुख्य कार्य से हानिकर भटकाव है; यह धारणा इस बात से भी पुष्ट होती थी कि ब्रिटिश सरकार जेल में गाँधीजी को हरिजन-कार्यक्रम सहर्ष चलाने देती थी। साथ ही, काँग्रेस के भीतर रूढ़िवादी हिंदुओं को यह नई बात अधिकाधिक खल रही थी। उदाहरण के लिए, मालवीय, जो 1920 के दशक के मध्य में गाँधीजी के अत्यंत निकट रहे थे अब उनसे दूर जाने लगे थे। हिंदू संप्रदायवादियों में इस बात से भी क्षोभ बढ़ा कि गाँधीजी ने मैकडोनल्ड -निर्णय की अन्य बातों से कोई सरोकार रखना अस्वीकार कर दिया था जिसके अनुसार पंजाब में मुसलमानों को 49 प्रतिशत और

बंगाल में 48.6 प्रतिशत प्रतिनिधित्व दिया गया था (अर्थात यूरोपियन सदस्यों के साथ मिलकर इन प्रांतों में उनका बहुमत हो जाता था)। बंगाल के रूढ़िवादी हिंदुओं को इस बात पर आपत्ति थी कि पूना समझौते ने सदा के लिए सवर्ण हिंदुओं को अल्पसंख्यकों की हैसियत प्रदान कर दी थी। किंतु जून 1934 में काँग्रेस वर्किंग कमेटी ने एक समझौतापूर्ण `न स्वीकार न इनकार' का उपाय अपनाया जिसके फलस्वरूप मालवीय ने एक अलग नेशनलिस्ट पार्टी बनाई। अप्रैल और जुलाई 1934 में बक्सर, जसीडीह और अजमेर में सनातनियों ने गाँधीजी की हरिजन सभाओं को भंग किया, और पूना में 25 जून को उनकी कार पर बम से हमला भी किया गया। अँग्रेज सरकार भी आधुनिकीकरण का प्रभाव डालने का दावा तो करती थी, किंतु वह भी रूढ़िवादी जनमत को विरोधी नहीं बनाना चाहती थी। अत: अगस्त 1934 में सरकारी सदस्यों ने लेजस्लेटिव असेंबली में टेंपल एंट्री बिल को पराजित करने में सहायता की।'[9] इस लंबे उद्धरण से यह बात समझ में आती है कि हरिजन की सामाजिक स्थितियों को लेकर `मुख्यधारा के भारतीय राष्ट्रवाद' का नजरिया कैसा था। न तो मदनमोहन मालवीय जैसे `रूढ़िवादी' लोगों के मन में `दलित प्रश्न' को महसूस करने की संवेदनशीलता थी और न ही नेहरू जैसे `प्रगतिशील' लोगों को `आंतरिक औपनिवेशिकता' से संघर्ष करने की राजनीतिक फुर्सत थी। `मुख्यधारा के भारतीय राष्ट्रवाद' के चाल-चरित की `स्थानापन्नता' को देखते हुए ही रवींद्रनाथ ठाकुर ने `राष्ट्रवाद की सर्वोच्चता की धारणा' से अपने को मुक्त करना जरूरी समझा होगा ! `भारत ने कभी भी सही अर्थों में राष्ट्रीयता हासिल नहीं की। मुझे बचपन से ही सिखाया गया कि राष्ट्र सर्वोच्च है, ईश्वर और मानवता से भी बढ़कर। आज मैं इस धारणा से मुक्त हो चुका हूँ और दृढ़ता से मानता हूँ कि मेरे देशवासी देश को मानवता से भी बड़ा बतानेवाली शिक्षा का विरोध करके ही सही अर्थों में अपने देश को हासिल कर पाएँगे।'[10] रवींद्रनाथ ठाकुर की इस घोषणा के बावजूद बंगाल में `भारतीय राष्ट्रवाद' के साथ और सहमेल में `बाँग्ला-राष्ट्रवाद' का विकास भी बहुत तेजी से हुआ, सिर्फ विकास ही नहीं हुआ बल्कि रवींद्रनाथ ठाकुर को ही उसके केंद्रीय व्यक्ति-प्रतीक के रूप में अपनाया भी गया।

iii. पूँजीवाद की साम्राज्यवादी आकांक्षा ने `राष्ट्रवाद' नाम के ऐसे नुस्खे का आविष्कार किया था जो हर `मर्ज' की दवा थी -- `राष्ट्रवाद' के नाम पर राष्ट्र के अंदर के किसी भी विभेद, विषमता और असहमति को नजरअंदाज करते हुए पूँजी के प्रच्छन्न-हित में सभी राष्ट्रवासियों को जान देने तक के लिए `पूँजीवाद' आसानी से प्रोत्साहित करता था। `राष्ट्रवाद' मानवता से ऊँचा मूल्य बनकर शोषण और युद्ध की पीठिका तैयार करता था। `राष्ट्रवाद' ऐसा दुधारी कटार था जिस से पूँजीवाद देश के अंदर भी अपना हित साधता था और बाहर भी। `राष्ट्रवाद' मनुष्य को अंधा बनाने का ही उपाय था। जो दूसरे को अंधा बनाने की `परियोजनाओं' पर काम करता है, उसके खुद के अंधा बनते ही कितनी देर लगती है ! जल्दी ही `राष्ट्रवाद' अंधा हो गया। अंधराष्ट्रवाद ने जो गुल खिलाये वह तो विदित ही है। यह `दलित राजनीति' का राजनीतिक कौशल ही था कि वह `मुख्यधारा के भारतीय राष्ट्रवाद' के अंधत्व से बहुत हद तक अपने को बचाये रखा।

iv. गाँधीजी के लिए तो हरिजन आंदोलन `सच्ची वर्णव्यवस्था' की बहाली का ही उपाय था। `अगस्त 1932 में मैकडोनल्ड ने सांप्रदायिक मामले में जो निर्णय दिया था, उसमें हरिजनों के लिए अलग से निर्वाचकमंडल बनाने की बात भी थी। इससे गाँधीजी को यह बात सूझी कि वे अपना ध्यान मुख्य रूप से `हरिजन'-कल्याण पर केंद्रित करें। 20 सितंबर को गाँधीजी ने हरिजनों के लिए अलग निर्वाचकमंडल के मुद्दे के विरुद्ध `आमरण अनशन' आरंभ कर दिया, और अंत में सवर्ण हिंदू एवं हरिजन नेताओं के बीच एक समझौता (पूना समझौता) कराने में सफल हुए। इस समझौते के अनुसार मैकडोनल्ड के प्रस्ताव में परिवर्त्तन किये गये। हिंदुओं के लिए संयुक्त निर्वाचकमंडल बने रहे जिनमें अछूतों के लिए आरक्षित सीटें रखी गई और मैकडोनल्ड की तुलना में उन्हें अधिक प्रतिनिधित्व भी दिया गया। यही व्यवस्था थी जो मूलतः 1947 के बाद भी बनी रही। अब हरिजनों का उत्थान गाँधीजी का मुख्य सरोकार हो गया। एक अखिल-भारतीय छुआछूत-विरोधी लीग की स्थापना की गई। सितंबर (1932) और गाँधीजी के रिहा होने के पूर्व ही साप्ताहिक हरिजन (जनवरी 1933) का प्रकाशन प्रारंभ किया गया (देखें 2 का v)।

नवंबर 1933 और अगस्त 1934 के बीच उन्होंने 12,500 मील की `हरिजन यात्रा' की और 15 जनवरी 1934 को बिहार में जो भयंकर भूकंप आया उसे `सवर्ण हिंदुओं के पापों का दैवी दंड' कहा -- यह एक ऐसी सुधार-विरोधी बात थी, पुरातन-पंथी बात थी जिससे रवींद्रनाथ को गहरा सदमा लगा।'[11] वस्तुतः `हरिजनों के लिए अलग से निर्वाचकमंडल बनाने की बात' एक राजनीतिक बात थी, सामाजिक नहीं। इसलिए इतना तो समझ में आना ही चाहिए कि 1932 में इस `राजनीतिक बात' के सामने आते ही `आजादी के आंदोलन की मुख्यधारा' ने इस `राजनीतिक बात' को `सामाजिक बात' बनाने की गहरी राजनीतिक चुनौती के रूप में लिया। 1932 के बाद, गाँधीजी के सामाजिक कार्यक्रमों को यही राजनीतिक चुनौती प्रेरणा और प्राण प्रदान कर रही थी।

4. हरिजन बनाम दलित

i. चूँकि `भारतीय राष्ट्र' के गठन में गाँधीजी के विचारों को केंद्रीयता प्राप्त है, इसलिए `हरिजन बनाम दलित' के संदर्भ को भी गाँधीजी के विचारों की केंद्रीयता में देखा जाना चाहिए। `हरिजन' और `दलित' का अर्थ क्या एक ही है ? कुछ लोग मानते हैं कि एक ही है। ये `कुछ लोग' कौन हैं ? ये वे लोग हैं, जो गाँधीजी की अवधारणाओं का इस संदर्भ में सही मानते हैं। कुछ लोग मानते हैं कि एक ही नहीं है। ये `कुछ लोग' कौन हैं ? ये वे लोग हैं, जो गाँधीजी की अवधारणाओं का इस संदर्भ में सही नहीं मानते हैं। ऐतिहासिक अनुभव के आधार पर हमें यह बात स्वीकारनी चाहिए कि `हरिजन' और `दलित' का अर्थ एक ही नहीं है। `हरिजन' एक सामाजिक समूह को ध्वनित करता है। `दलित' राजनीतिक समूह को ध्वनित करता है। `हरिजन' की अवधारणा `सामाजिक-न्याय' की माँग करती है। `दलित' की अवधारणा `राजनीतिक-न्याय' की माँग से परिचालित है। `हरिजन' की अवधारणा `सामाजिक संरचना' में बदलाव की माँग करती है। `दलित' की अवधारणा `सत्ता की संरचना' में बदलाव के लिए संघर्षशील है। `सामाजिक-संरचना' में बदलाव की माँग बहुत ही पुरानी `सामाजिक माँग' है, विभिन्न ऐतिहासिक अवसरों पर इसके लिए सामाजिक-सुधार के आंदोलन हुए हैं। लेकिन इस या उस कारण से इस संदर्भ में

`सामाजिक संरचना' में कोई परिवर्त्तन घटित नहीं हुआ है। `दलित राजनीति' का विश्वास दृढ़ होता गया है कि `सत्ता की संरचना' में परिवर्त्तन घटित हुए बिना `समाज की संरचना' में परिवर्त्तन का होना असंभव है। संवैधानिक प्रावधानों के होने को उनकी ऐतिहासिकता में देखें तो यह बात समझते देर नहीं लगेगी कि वे `हरिजन' की अवधारणा से नहीं `दलित' की अवधारणा से व्युत्पन्न हुए हैं (देखें 1का ii और 3 का ii)। इस `हरिजन' ने `दलित' को कम नहीं छला है, लेकिन मानना होगा कि संवैधानिक प्रावधानों का होना `हरिजन' पर `दलित' की एक बड़ी जीत है।

ii. यह ठीक है कि 1789 की `फ्राँसिसी क्रांति' में उठी `समता, स्वतंत्रता और बंधुत्व' की माँग और `भारतीय स्वतंत्रता आंदोलन' के ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में उठी `समता, स्वतंत्रता और बंधुत्व' की माँग की अपनी कुछ विशिष्टताएँ भी हैं, लेकिन इस माँग के धीरे-धीरे कमजोर पड़ते जाने के कारणों में कुछ ऐतिहासिक समानताएँ भी हैं। इन समानताओं को देखना-परखना जरूरी है। डॉ. अंबेडकर अपने लेखनाधीन निबंध ` बुद्ध और कार्ल मार्क्स' में इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि `समाज की नई आधारशिला फ्रांसिसी क्रांति के तीन शब्दों, बंधुत्व, स्वतंत्रता और समता में समाहित है। फ्रांसिसी क्रांति का स्वागत इसी संकल्प के कारण हुआ। यह समता लाने में विफल रही। हमने रूसी क्रांति का स्वागत किया क्योंकि यह समता लाने का लक्ष्य रखती थी। लेकिन समता लाने के नाम पर समाज बंधुत्व और स्वतंत्रता का कुर्बान नहीं कर सकता है। बिना बंधुत्व और स्वतंत्रता के समता का कोई मोल नहीं है। ऐसा प्रतीत होता है कि इन तीनों को एक साथ सिर्फ बुद्ध के अनुसरण से ही हासिल किया जा सकता है। साम्यवाद एक दे सकता है, सब नहीं।'[12] डॉ. अंबेडकर `समाज की नई आधारशिला' के रूप में `बंधुत्व, स्वतंत्रता और समता' को तो स्वीकारते हैं, इनकी अविभाज्यता को जानते हुए भी इसे अपनी राजनीति के व्यवहार्य एजेंडे में तत्त्वांतरित नहीं कर पाते हैं। कहना ना होगा कि राजनीतिक व्यवहार के एजेंडे में इसे तत्त्वांतरित नहीं कर पाना उनके राजनीतिक-दृष्टिकोण को आत्म-खंडित करता है। असल में

`बंधुत्व, स्वतंत्रता और समता' अलग-अलग न होकर मानवीय-अस्मिता के ही तीन अविभाज्य पहलू हैं।

iii. डॉ. अंबेडकर `समता, स्वतंत्रता और बंधुत्व' की अविभाज्यता को जानते थे, मानते थे -- संविधान सभा में उन्होंने कहा, `हमें अपने राजनीतिक लोकतंत्र को सामाजिक लोकतंत्र के रूप में ढालना है। राजनीतिक लोकतंत्र तब तक नहीं टिक सकता जब तक कि उसकी आधारशिला के रूप में सामाजिक लोकतंत्र न हो। सामाजिक लोकतंत्र का क्या अर्थ है ? इसका अर्थ है जीवन की वह राह जो स्वाधीनता, समानता एवं भ्रातृत्व को जीवन के सिद्धांत के रूप में मान्यता दे। स्वाधीनता, समानता एवं भ्रातृत्व के इन सिद्धांतों के त्रित्व को अलग उपादानों के रूप में न समझा जाए। ये सिद्धांत त्रित्व के समेकित रूप का निर्माण करते हैं तथा इनका आशय यह है कि एक को दूसरे से अलग करने का अर्थ है -- लोकतंत्र के मूल उद्देश्य को नकार देना। स्वाधीनता को समानता से अलग नहीं किया जा सकता, समानता को स्वाधीनता से अलग नहीं किया जा सकता और न तो स्वाधीनता और समानता से भ्रातृत्व को अलग किया जा सकता है।'[13] इसके बावजूद `फ्राँसिसी' ओर `रूसी' क्रांति के संदर्भ में `त्रित्व' को तोड़कर उन पर अभिमत बनाना, `दलित राजनीति' के लिए आज भी परेशान करनेवाली बात है।

iv.`बुद्ध के अनुसरण से' ही इन्हें हासिल करना संभव होता तो यह संभव हो चुका होता। इतिहास अपने को दुहराता है, मगर इस तरह नहीं। `बुद्ध के अनुसरण' या `शरण' में जाने का मतलब, बाद में विकसित कई अनिवार्य प्रसंगों को नजरअंदाज करना है। गतकाल में जाकर पुरखों से प्रेरणा लेना और बात है, लेकिन संघर्ष तो हर किसी को समकाल की कठिन भूमि पर ही करनी पड़ती है। `क्रांति का स्वागत करना' काफी नहीं होता है, जरूरी होता है क्रांति करना। क्रांति करने में योगदान करना। अपनी सामाजिक विशिष्टताओं को समझते हुए क्रांति की सही समझ विकसित करना। असल में भारत में यह सबकुछ औपनिवेशिक वातावरण में हो रहा था और औपनिवेशिकता के बहुत सारे अदृश्य प्रभाव होते हैं। इन प्रभावों को काट पाना हर समय संभव नहीं होता है। यह न डॉ. अंबेडकर के

लिए संभव हुआ और न भारतीय वामपंथ के लिए ही संभव हुआ इसलिए भी, कि `आम तौर पर, भारतीय वामपंथ जाति और वर्ग के जटिल संबंधों की ओर पर्याप्त ध्यान देने में असफल रहा।'[14]

v. दुखद है कि `दलित राजनीति' और `भारतीय वामपंथ' की दिशा एक थी, लेकिन वे अपनी राजनति के नैसैर्गिक साहचर्य की ऐतिहासिक आवश्यकता को सही अर्थ में आँककर न एक हो पाये, न `मुख्यधारा की राजनीति' की साझी चुनौती को ही ठीक से समझ पाये। इस साझी चुनौती के महत्त्व के संदर्भ में एक तथ्य इतिहास से, `12 अप्रैल 1934 को बिड़ला ने ठाकुरदास को सलाह दी : ``मैं चाहता हूँ कि आप भूलाभाई (देसाई) से संपर्क रखें। यदि स्वराज पार्टी को सफल होना है तो उन्हें नए चुनाव लड़ने के लिए धन की आवश्यकता पड़ेगी और मेरी सलाह है कि बंबई वह धन तबतक न दे जब तक वह इस बात के प्रति संतुष्ट न हो जाए कि सही लोगों को भेजा जा रहा है।'' 3 अगस्त 1934 को बिड़ला ने पुनः लिखा : ``वल्लभ भाई, राजाजी और राजेंद्र बाबू सभी कम्युनिज्म और समाजवाद के विरुद्ध संघर्ष कर रहे हैं। अतः यह आवश्यक है कि हम में से कुछ जो स्वस्थ पूँजीवाद के प्रतिनिधि हैं, यथासंभव गाँधीजी की सहायता करें और एक साझे लक्ष्य को लेकर कार्य करें'' (ठाकुरदास पेपर्स, फा.नं. 123.42[vi]।'[15] `स्वस्थ पूँजीवाद के प्रतिनिधि' अपने साझे लक्ष्य के अंर्गत ब्रिटिश साम्राज्यवाद से लड़ने के लिए नहीं `कम्युनिज्म और समाजवाद' के प्रसार को रोकने के लिए `गाँधीजी की सहायता' करते थे और `मुख्यधारा की राजनीति' को अर्थ उपलब्ध करवाते थे ! देखने की बात यह है कि `कम्युनिज्म और समाजवाद' के प्रसार को रोकने के लिए ही `दलित' के सामने `हरिजन' को खड़ा कर दिया गया -- `समझदार दुश्मनों' ने हमें `दर्पण' के सामने खड़ा कर दिया -- हम अपने-आप से लड़ते रहे ! देखना दिलचस्प होगा कि हम आज भी लड़ ही रहे हैं, या स्थिति कुछ बदली भी है !

vi. डॉ. अंबेडकर बहुत ही सावधानी के साथ, आजादी और संविधान के हासिल होने के बाद उत्पन्न होनेवाली विरोधाभासी जीवन-स्थितियों की व्याख्या करते हुए कहते हैं, `भारतीय

समाज में दो बातों का पूर्णत: अभाव है। इनमें से एक समानता है। सामाजिक क्षेत्र में हमारे भारत का समाज वर्गीकृत असमानता के सिद्धांत पर आधारित है जिसका अर्थ है, कुछ लोगों के लिए उत्थान एवं अन्यों की अवनति। आर्थिक क्षेत्र में हम देखते हैं कि समाज में कुछ लोगों के पास अथाह संपत्ति है जबकि दूसरी ओर असंख्य लोग घोर दरिद्रता के शिकार हैं। 26 जनवरी, 1950 को हमलोग एक विरोधाभासी जीवन में प्रवेश करने जा रहे हैं। राजनीति के क्षेत्र में हमारे बीच समानता होगी। राजनीति में हम एक-व्यक्ति एक-मत एवं एक-मत एक-मूल्य के सिद्धांत को स्वीकृति देंगे। पर अपने सामाजिक एवं आर्थिक जीवन में वर्तमान सामाजिक एवं आर्थिक संरचना के चलते एक-व्यक्ति एक-मूल्य के सिद्धांत को अस्वीकार करना जारी रखेंगे। हम कब तक इस विरोधाभासी जीवन को जीते रहेंगे, अपने सामाजिक एवं आर्थिक जीवन में समानता को अस्वीकार करते रहेंगे ?'[16] दूसरी बात के रूप में वे `भ्रातृत्व के अभाव' को रेखांकित करते हैं। डॉ. अंबेडकर की चेतावनी को दरकिनार करते हुए हम अपने `सामाजिक' एवं `आर्थिक' जीवन में समानता को अस्वीकार करते आ रहे हैं। `उदारीकरण-निजीकरण-भूमंडलीकरण' के दौर में तो, इस `अस्वीकार' को स्वाभाविकता और वैधता मिलने का मौसम ही आ गया है। इस नये मोसम में `दलित राजनीति' को `समानता, स्वतंत्रता और बंधुत्व' के सामाजिक और राजनीतिक जीवन में प्रवेश के लिए नये सिरे से संगठित संघर्ष करने की चुनौती को समझना है।

5. आज की दलित राजनीति

i. इस ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य पर संक्षिप्त-सी चर्चा के बाद स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद से लेकर आज की `दलित राजनीति' पर विचार करना उपयुक्त होगा। `स्वतंत्रता' के बाद सबसे महत्त्वपूर्ण विकास यह हुआ कि धीरे-धीरे `हरिजन आंदोलन' पिछड़ता गया और `दलित आंदोलन' बढ़ता गया। यह शुभ हुआ या अ-शुभ, इस पर दो-टूक बात करना मुश्किल है। यह मुश्किल इसलिए भी कुछ अधिक है कि ऐसी चर्चा में अक्सर गुपचुप तरीके से कल्पना अपना काम करने लगती है। कल्पना में हम अपनी सुविधा और इच्छा के

अनुसार अनुकूल स्थितियों का चयन कर उसे शृँखलाबद्ध कर लेते हैं, यथार्थ इसकी अनुमति नहीं देता है। ऐतिहासिक अनुभव यह बताता है कि `हरिजन आंदोलन' का प्रारंभ ही हुआ था `दलित आंदोलन' को दबाने के लिए। ऐसे में `दलित आंदोलन' की वैधता से टकराकर `हरिजन आंदोलन' अगर अप्रासंगिक होता गया तो इसे `दलित आंदोलन' के लिए शुभ ही माना जाना चाहिए। लेकिन इस ऐतिहासिक दबाव से थोड़ा बाहर निकलकर यह सोचा जाये कि `दलित आंदोलन' यदि पराजयोन्मुखी `हरिजन आंदोलन' को अपनी अंतवर्त्ती सामाजिक प्रक्रिया के रूप में अनुकूलित कर अपनी राजनीतिक आकांक्षा के सामाजिक प्रतिफलन के बारे में सचेत होता तो `सामाजिक परिवर्त्तन' का काम तेजी से आगे बढ़ता। इस तरह `राजनीतिक लोकतंत्र' के `सामाजिक लोकतंत्र' में अंतरित होते जाने की प्रक्रिया भी जारी रहती। कहना न होगा कि `पूँजीवाद' ने `हरिजन' ओर `दलित' को एक दूसरे की विरोधिता में विकसित किया लेकिन यदि `समता-स्वतंत्रता-बंधुत्व' के लिए संघर्षशील चेतना से संपन्न लोग संगठित रूप से `हरिजन' और `दलित' में `बंधुत्व' की स्थिति बना पाते तो यह काम `पूँजीवाद' के हितों पर चोट ही पहुँचाता। असली दुश्मन न तो `गाँधी जी का दृष्टिकोण' था और न `हरिजन', असली दुश्मन तो `पूँजीवाद' ही था और है। अब, आज की `दलित राजनीति' की समस्याओं के संदर्भ में देखें तो कुछ बातें साफ होती हैं।

ii. आज की `दलित राजनीति' अपने एजेंडा में `ब्राह्मणवाद' के विरोध को तो शामिल करती है, लेकिन `पूँजीवाद' के सवाल पर या तो उसके पास कथ्य ही नहीं है या फिर चुप है। आज की `दलित राजनीति' की व्यावहारिकता इस बात से कत्तई सचेत नहीं है कि अन्य जातियों, जिनमें दलित भी शामिल हैं, के सदस्यों में भी स्वतंत्रता, समता और बंधुत्व की भावनाओं का निषेध, अर्थात `ब्राह्मणवाद' का समर्थन हो सकता है। संसदीय राजनीति की बाध्यताओं से संघर्ष करने के बदले उसकी सुविधाओं की माँग पर आज की `दलित राजनीति' कई बार सामाजिक स्वतंत्रता, समता और बंधुत्व की भावनाओं का निषेध करती है, अधिक-से-अधिक, दलितों के बीच स्वतंत्रता, समता और बंधुत्व की भावनाओं की बहाली की बात करती हुई, `ब्राह्मणवाद' के एजेंडे को ही लागू कर देती है।

iii. `कामगार' से तात्पर्य श्रम से आजीविका का उपार्जन करनेवाले से है। `कामगारों' से मुख्य आशय सिर्फ `संगठित क्षेत्र' के कामगारों तक सीमित होकर रह गया है। `संगठित क्षेत्र' के कामगारों के बीच रोजी-रोटी, वेतन एवं अन्य सुविधाओं आदि के लिए श्रमिक संगठन हैं। ऐसे `श्रम संस्थान' में भी `श्रम-विभाजन' के साथ ही `श्रमिक विभाजन' की नई पद्धतियों से टकराने की जरूरत को बरतने की मन:स्थिति विकसित नहीं हो पाई है। `आरक्षण कवच'[17] के साथ जो `कर्मचारी ऐसे प्रतिष्ठानों से जुड़ते हैं, उनका एक अलग `प्रगतिशील' संगठन तो होता है लेकिन यह संगठन `श्रमिक विभाजन' की प्रक्रियाओं को रोक कर सामाजिक स्वतंत्रता, समता और बंधुत्व की भावनाओं को प्रोत्साहित करने की अपनी सचेत-सक्रिय भूमिका को अपने एजेंडे में शामिल नहीं कर पाता है। होना तो यह चाहिए था कि ट्रेड युनियनें `पूँजीवाद' की बुराइयों के खिलाफ और ऐसे प्रगतिशील संग्ठन `ब्राह्मणवाद' की बुराइयों के खिलाफ अलग-अलग संघर्ष करते और आपस में ताल-मेल बनाकर `पूँजीवाद' और `ब्राह्मणवाद' से एक साथ निपटते। लेकिन ये दोनों ही संगठन, एक दूसरे को शक की निगाह से देखते हैं और आपसी अलगाव में पड़े रहते हैं। यह अलगाव `पूँजीवाद' और `ब्राह्मणवाद' की औपनिवेशिक मनोवृत्तियों को और अधिक पुष्टि एवं सामाजिक अनुकूलन प्रदान करती है।

iv. जाहिर है कि इस तरह से औपनिवेशिक मनोवृत्तियों के बने रहने और निरंतर पुष्ट होते रहने से `स्वतंत्रता, समता, बंधुत्व' की भावना विकसित नहीं हो सकती है (देखें 1का vi)। आज के दौर में जब `सभ्यताओं के संघात'[18] और नई विश्व-व्यवस्था की बात जोर-शोर से उठ रही है। `स्वतंत्रता, समता, बंधुत्व' की भावना के नये सिरे से विकास के लिए `नवनैतिकता' की मनोभूमि तैयार करने का दायित्व हमारे सामने है। बदलाव की नई हवा की दशा-दिशा और इससे उत्पन्न प्रदूषणों को भी समझना होगा। यह सभ्यता और संस्कृति के जटिल सवालों की पुरानी गुत्थियों के खुलने और नई गुत्थियों के बनने का दौर है। भारतीय राज और समाज की पुरानी गुत्थियाँ खुल नहीं पाई हैं और नई गुत्थियाँ तेजी से बन रही हैं। प्रत्येक क्षेत्र की देशी-विदेशी सत्ताएँ अपने-अपने तरीके से अपनी-

अपनी जनता को बाद देकर पूँजीवाद के प्रभुत्व को बढ़ाने में दिलचस्पी ले रही हैं। इतिहास बताता है कि बाहरी औपनिवेशिक दासता में जकड़नेवाले `विदेशी अंगरेजों' और देश को आंतरिक औपनिवेशिक दासता में जकड़ रखनेवाले `देशी प्रभुओं' के बीच कैसी कूट और कुटिल समझदारी विकसित हुई थी। असल में यह सत्ता और सत्ता के बीच की अंतर्निहित एकता है। देशी और विदेशी जैसे विशेषण सिर्फ भरमाते हैं।

v. यह याद रखना चाहिए कि `भारतीय स्वतंत्रता संघर्ष' असल में `समस्त अंगरेज जाति' के विरुद्ध `समस्त भारतीयों का संघर्ष' नहीं था। यह `अंगरेज जाति की औपनिवेशिक शक्ति' के विरुद्ध उन भारतीयों का संघर्ष था जो एक साथ बाहरी और भीतरी दोनों ही प्रकार की औपनिवेशिक दासता से मुक्ति के लिए आग्रहशील थे। ध्यान देने की बात यह है कि यह संघर्ष `मुख्यधारा की राजनीति' नहीं कर रही थी -- `मुख्यधारा की राजनीति' सिर्फ बाहरी उपनिवेश के राजनीतिक और पूँजी के वर्चस्व से लड़ रही थी जबकि `दलित राजनीति' बाहरी और भीतरी दोनों ही प्रकार की औपनिवेशिक दासता से मुक्ति के लिए लड़ रही थी। इस अर्थ में देखा जाये तो `मुख्यधारा की राजनीति' की तुलना में `दलित राजनीति' अधिक पूर्णता से संघर्ष कर रही थी। भारतीय स्वतंत्रता संघर्ष की पूर्णता के समर्थक अंगरेज जाति के लोगों में भी थे और इस संघर्ष की पूर्णता के विरोधी भारतीयों में भी थे। विभिन्न क्षेत्र की देशी-विदेशी सत्ताओं की बनाई पुरानी गुत्थियों को खोलने और नई गुत्थियों के बनने नहीं देने में निर्विशिष्ट मानवीय मेधा का इस्तेमाल करना चाहिए। लेकिन ऐसा नहीं हो रहा है। इसका कारण सत्ता के स्वभाव में ही निहित है। दुनिया भर की सत्ताएँ अपने हित-संरक्षण के मामले में समान मनोवृत्ति से संचालित होती हैं। सत्ता की सहचरी के रूप में राजनीति में पृथक्करण की प्रवृत्ति जितनी तेज होती है, एकीकरण की प्रवृत्ति उतनी तेज नहीं होती है। पृथक्करण राजनीति की शैली है, एकीकरण सामाजिकता की शैली है। `राजनीति' और `सामाजिकता' के एक साथ सक्रिय रहने से `पृथक्करण' और `एकीकरण' से संतुलन बना रहता है। `राजनीति' इस संतुलन को भंग करने की कीमत पर भी `सत्ता की सीढ़ी' पकड़ने के लोभ से अपने को बचा नहीं पाती है।

vi. सत्ताएँ और सामाजिकताएँ, गोचर-अगोचर रूप से, आपस में भिड़ती रहती है। ध्यान में रहना ही चाहिए कि सत्ता अपने स्वभाव से ही भूमंडलीय व्याप्तिवाली होती है। राजा को `जगदीश्वर' ही बताया और माना जाता है। सामाजिकताएँ अपने स्वभाव से ही स्थानिक होती है। आज के संदर्भ में ग्लोबल और लोकल के संघर्ष का संदर्भ सत्ता और सामाजिकता से जुड़ा हुआ है। सत्ता अपने को ईश्वर मानती है और इस मामले में उसका स्वभाव `एकेश्वरवादी' होता है। दो सत्ताएँ एक साथ अस्तित्व में रह नहीं सकती है, इसलिए उनमें वर्चस्व का संघर्ष सदा जारी रहता है। आज की `सत्ता' का नाम `पूँजी' है। बड़ी सत्ता छोटी-छोटी `सत्ताओं' को व्यावहारिक रूप से अधीनस्थ `सामाजिकताएँ' ही मानती है। उदाहरण के लिए विकसित देश की सत्ता की नजर में विकासशील देश की कोई सत्ता नहीं होती, महज सामुदायिकताएँ या अधिक-से-अधिक `सामाजिकताएँ' होती है; इसलिए विकासशील राष्ट्रों की `संप्रभुता' का कोई अर्थ नहीं होता है। अब एक गंभीर सवाल से हमारा सामना होता है। यह सवाल है, `राष्ट्र की संप्रभुता' के असली अर्थ को ढूढ निकालने का। इस अर्थ को ढूढने में कठिनाई कहाँ है ? पहली कठिनाई यह है कि `बहुराष्ट्रीय आवारा पूँजी' के बढ़ते वर्चस्व के इस दौर में जब `राष्ट्रों की राजनीतिक सीमाएँ' तेजी से भंजनशील हो रही हैं और `बहुराष्ट्रीय आवारा पूँजी' की आकांक्षित और संपोषित `अधि-राष्ट्रीयता'[19] उठान पर है, तब `राष्ट्रों की संप्रभुता' का वास्तविक अर्थ क्या ठहरेगा ? कल तक हम यह मानते रहे हैं कि `संप्रभुता' राष्ट्र की जनता में निवास करती है, लेकिन अब यह स्पष्ट होता जा रहा है कि `संप्रभुता' का असली निवास `पूँजी' में होता है। किसकी `पूँजी' में ? राष्ट्र की `पूँजी' में ? लेकिन राष्ट्र तो `पूँजी प्रक्षेत्र' से बाहर हो रहे हैं ! असल में नई विश्वव्यवस्था का तकाजा है कि जिसकी `पूँजी'होगी, `संप्रभुता' भी उसी की होगी; चाहे वह व्यक्ति हो, कोई कंपनी हो, या कुछ और ही क्यों न हो। जिसकी जितनी `पूँजी' होगी, उसकी उतनी `संप्रभुता' होगी ! कहना न होगा कि `परुष पुरातन की बधु' होने के कारण `पूँजी' अपने स्वभाव से ही चंचल होती है, `पूँजी' का चांचल्य `संप्रभुता' को भी चंचल बनाता है।

vii. अब समस्या यह कि जब `राजनीतिक राष्ट्रों की संप्रभुता' ही नहीं बचेगी, तब `सामाजिकताओं का सम्मान' और `नागरिकों के राजनीतिक एवं मानव अधिकार' ही कैसे बचेंगे ? `पुरानी विश्वव्यवस्था', यानी राजनीतिक नियंत्रण, सामाजिक संतुलन और जनतांत्रिकता में निहित जनाधिकार की समतोन्मुखी आकांक्षित संवैधानिक व्यवस्था, की आधारभूत संरचना में परिवर्त्तन किये बिना उसकी अंतर्वस्तु में विचलनकारी गुणात्मक परिवर्त्तन कर, `नई विश्वव्यवस्था' तैयार की जा रही है। `पुरानी विश्वव्यवस्था' की अवधारणाओं में `नई विश्वव्यवस्था' चुपके से नया और पुराने से भिन्न तथा विपरीत अर्थ भरती है। `नई विश्वव्यवस्था' शब्दों के निहितार्थ को बदल रही है। कभी `फ्रैंडली फायर' और `कोलेटरल डैमेज' जैसे विरोधी अर्थों को एक शब्द-युगम में नत्थीकर उनमें नये निहितार्थ का संपुट किया जा रहा है, तो कभी शब्दों को जस का तस बनाये रखकर भी उसकी मूल संकल्पना को बदलने की कोशिश की जा रही है। बदली हुई संकल्पना को वैकल्पिक अर्थ बताया जाता है। `नई विश्वव्यवस्था' वैकल्पिक अर्थ के स्थिर होने की जाँच करती रहती है। हाल ही में इस तरह की जाँच का अभियान `वाशिंगटन पोस्ट' ने चलाया था। पाठकों से `शब्दों के वैकल्पिक अर्थ' के बारे में सुझाव माँगा गया था। `नई विश्वव्यवस्था' की धमक के पहले कौन कह सकता था कि `मुक्ति' और `जनतंत्र' का वह अर्थ है जिस अर्थ में अमेरीकी प्रशासन, खासकर अफगानिस्तान और इराक में, उसका इस्तेमाल करता है ! `लिबरलेजाइशन' या `उदारीकरण' का ऐसा अर्थ भी हो सकता है, किसने सोचा था! राजसत्ता ने हमेशा भाषा पर कब्जा करने की भी कोशिश की है। राज-सत्ता की कोशिश के सफल होने के साथ ही जनसत्ता ने अपनी भाषा को बदल दिया है। भाषाओं के विकास के सामाजिक प्रसंग को ध्यान में रखा जा सकता है। ऐसा नहीं होता तो `भद्र' का विकसित रूप `भद्दा' कैसे होता ! पुराने शब्दों में नये और विपरीत अर्थों की तानातानी होने पर बौद्धिक विमर्श में `तर्क की ताकत' कम होती है और `ताकत का तर्क' अधिक प्रभावी होता है। जाहिर है, वाद-विवाद तो खूब होता है, लेकिन संवाद कभी सफल नहीं होता है। इस `नई विश्वव्यवस्था' में `पूँजी की संप्रभुता' का विन्यास है और इससे `श्रम की सत्ता' का सत्यानाश होते जाना तय है। `श्रम की सत्ता' के सत्यानाश का मतलब मनुष्यता की सत्ता

के नाश के अलावे और हो ही क्या सकता है ! मुख्य सवाल यह है कि `श्रम की सत्ता' को बचाने के लिए क्या किया जा सकता है ?

viii. `सत्ता' की डोरी आंदोलनों के जरिये तैयार होती है। `दलित राजनीति की समस्या' के खास संदर्भ में देखें तो एक बड़े और टिकाऊ सामाजिक-राजनीतिक आंदोलन चलाने की तैयारी में लगना सबसे बड़ी समस्या है। इस तैयारी की पहली बड़ी समस्या `दलित' की पहचान को लेकर ही है। खासकर आंदोलन के लिए इस पहचान का संकट और गहरा है। `दलित राजनीति' का एक बड़ा अंश `दलित पहचान' को जन्म से जोड़ता है। मुश्किल यह है कि `जन्म' के आधार पर `पहचान' तो ब्राह्मणवाद का सिद्धांत और लक्षण है। दलित नेता इस बात को जाने हुए भी क्यों `बह्मणवाद' के औजार को अपनाते हैं या अपनाने के लिए विवश होते हैं। डॉ. अंबेडकर ने तो कहा था कि `ब्राह्मणवाद' सिर्फ ब्राह्मणों तक सीमित न होकर सभी जातियों में घुसा हुआ है, आशय यह कि यह `दलितों' में घुसा हो सकता है (देखें 1का iv)। `दलित राजनीति' का लक्ष्य सिर्फ `दलितों' तक ही सीमित क्यों हो ? `दलित राजनीति और आंदोलन' का लक्ष्य सिर्फ `दलित विरोधी' को उखाड़ फेकना ही क्यों हो, `दलित राजनीति और आंदोलन' का लक्ष्य मानवता विरोधी, समता, स्वतंत्रता और भ्रातृत्व विरोधी सारी शवक्तयों का विरोध क्यों न हो ? इन सवालों से टकराते हुए `दलित आंदोलन और राजनीति' को अपने लक्ष्य के अनुकूल `विचारधारा' का विकास करना जरूरी है। कहना न होगा कि विचारधारा के विकास में पहले से उपलब्ध विचारधाराओं की अनुकूलताओं को सावधानी से परखना भी जरूरी होता है। लक्ष्य और विचारधारा के अनुसार दीर्घकालिक और तात्कालिक कार्यक्रम की रूप-रेखा तैयार करने के लिए नेतृत्व और संगठन पर काम करना और इन्हें सूत्रबद्ध करना बड़ी समस्या है।

ix. लक्ष्य, विचारधारा, कार्यक्रम, नेतृत्व और संगठन जैसे अनविार्य घटक एक-दूसरे से स्वायत्त न होकर परस्परावलंबित होते हैं। ये आंदोलन के अविभाज्य घटक हैं। इन में से किसी एक का भी अभाव आंदोलन को विकलांग बनाता है। जीवन के मूल्य-समुच्चय की आंतरिक प्रणाली में नये मूल्य के समायोजन या फिर एक मूल्य-समुच्चय को तजकर

सर्वथा नये मूल्य-समुच्चय को अपनाने के लिए एक मूल्यबोध से दूसरे मूल्यबोध तक की यात्रा में व्यक्तिगत रूप से सहमत होकर सामूहिक रूप से क्रियाशील होने से ये घटक संघटित होकर आंदोलन का रूप लेते हैं। कोई राजनीतिक कार्रवाई तब आंदोलन हो जाती है, जब उसमें व्यापक जनता की भागीदारी होती है और जो उस कार्रवाई में सक्रिय रूप से शामिल नहीं होते हैं, यहाँ तक कि जो उसके प्रत्यक्षतः लाभार्थी नहीं भी होते हैं, उनकी भी सहमति और सहानुभूति अर्जित करती है। यह विमर्श काफी दिलचस्प हो सकता है कि आंदोलन के भीतर से उसके ये घटक बनते हैं या इन घटकों के मिलने से आंदोलन बनता है। लेकिन मुख्य बात यह है कि न तो कोई आंदोलन पूर्णतः स्वतःस्फूर्त होता है और न पूर्णतः निदेशित। हालाँकि राजनीतिक और सामाजिक परिवर्त्तन की सही मति ओर गति रेखाएँ एक दूसरे से संवादी होती हैं, बहुत कम अवसरों पर एक दूसरे से उलझती हैं फिर भी उनके लक्ष्यों की प्राथमिकता के अंतर से उनमें महत्त्वपूर्ण अंतर भी होता है। इस अंतर को ध्यान में रखना चाहिए। कई बार राजनीतिक परिवर्त्तन सरकार में परिवर्त्तन के आशयों से ही सीमित होकर रह जाता है। लेकिन सरकार में परिवर्त्तन राजनीति में परिवर्त्तन की सही सूचना नहीं भी हो सकता है। राजनीति में परिवर्त्तन का अर्थ होता है शासक और शासित, कई बार इसे शोषक और शोषित के रूप में भी पढ़ना जरूरी होता है, के बीच बहुस्तरीय संबंधों के नियामक कारकों में, विभिन्न हितग्राही समूहों के पारस्परिक संबंधों और सत्ता के साथ उनके संबंधों की जारी सामंजस्य शृँखला में परिवर्तन। राजनीतिक परिवर्त्तन का यह काम वैधानिक स्तर पर होता है और राजनीतिक सत्ता इसके लिए नियम बनाती है। वर्चस्वशाली समूह और उनकी विचार-पद्धति तथा उनकी कार्य प्रणालियों में बदलाव सामाजिक परिवर्त्तन कहलाता है। सामाजिक परिवर्त्तन का यह काम सांस्कृतिक स्तर पर होता है और समाज सत्ता इसके लिए मन बनाती है। चूँकि सामाजिक परिवर्त्तन का कोई भी प्रयास समाज के वर्चस्वशाली हित-समूहों को प्रभावित करता है, इसलिए वर्चस्वशाली हित-समूह राजनीतिक और सामाजिक परिवर्त्तन की सही मति और गति को नये-नये उलझावों में डालकर वैचारिक और सांस्कृतिक भटकाव का मायावी वातावरण रचता रहता है। यह बहुत ही सूक्ष्म तथा मनोनुकूलन के रूप में होता है। जनमत का एक

रूप ऐसा होता है जो समाज के वर्चस्वशाली हित समूहों की इस माया परियोजना को जानबूझकर, और कई बार सामजिक प्रवाह की बहती धारा के प्रभाव में अनजाने भी, अपने विचार का हिस्सा बना लेता है। जनमत का दूसरा रूप वह होता है जो सामाजिक प्रवाह की बहती धारा के प्रभाव को समझते हुए उसके साथ संघर्षशील होता है और समाज के वर्चस्वशाली हित समूहों की इस माया परियोजना का जानबूझकर, कई बार अनजाने में भी, विरोध रचता है। यहीं हम देख सकते हैं कि औपनिवेशिक वर्चस्व में रह चुके देशों के उत्तर-औपनिवेशिक राज में भी देशी-जनतांत्रिक सत्ताएँ वर्चस्व बनाये रखने की औपनिवेशिक युक्तियों का इस्तेमाल करना सहज ही नहीं छोड़ देती हैं। हमारा अनुभव बताता है कि बिना क्रांति के हुए सत्ता परिवर्त्तन से सर्वांगीण राजनीतिक परिवर्त्तन घटित नहीं हो पाता है।

x. राजनीतिक परिवर्त्तन के क्रम में नियम बनाये जाने के बावजूद सांस्कृतिक स्तर पर सामाजिक मन नहीं बन पाता है। इसलिए नागरिक संहिता में उपकारी नियमों के रहते हुए भी सामाजिक जीवन में सौमनस्य नहीं बन पाता है। यह काम अधूरा रह जाता है। इस अधूरे काम को पूरा करने में साहित्य की बहुत महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है। अर्थात सामजिकता के वि-औपनिवेशीकरण की दरकार बनी हुई रहती है। राजनीतिक परिवर्त्तन का लक्ष्य सिर्फ सत्ता परिवर्त्तन नहीं होता है, बल्कि सामाजिक परिवर्त्तन तक पहुँचकर ही सार्थक बनता है। इसके लिए आज के जटिल समय में सामजिक अभिप्रेरणाएँ तो चाहिए ही राजनीतिक और आर्थिक अभिप्रेरणाएँ भी चाहिए। स्वाभाविक ही है कि इस काम में राजनीतिक और आर्थिक संदर्भों को झटककर `सामाजिक स्वायत्तता' के प्रति समर्पित युरोप-केंद्रित `नव सामाजिक आंदोलन' जैसा आंदोलन `स्वतंत्रता, समता ओर बंधुत्व' को हासिल करने का लक्ष्य रखनेवाले आंदोलन की प्रेरणा का आधार नहीं बन सकता है (देखें 5 का xi)। कहना न होगा कि `स्वतंत्रता का राजनीति' से, `समता का आर्थिकी' से और `बंधुत्व का सामाजिकता' से गहरा संबंध होता है। अतः जिस प्रकार `स्वतंत्रता, समता और बंधुत्व' को विच्छिन्न करना आत्मघाती होता है, उसी प्रकार `राजनीतिक, सामाजिक और

आर्थिक' प्रसंगों को विच्छिन्न करना भी आत्मघाती होता है। इनके संयोजन-सहयोजन का सूत्र संगठन से निकलता है। संगठन अर्थात, लक्ष्य, विचारधारा, कार्यक्रम, नेतृत्व की व्याघाती प्रवृत्तियों को उनके न्यूनतम स्तर पर ले जाकर उनका इस तरह का अंतर्गुंफन तैयार करना कि वे सह-क्रियाशील[20] मुद्रा में एक दूसरे की संवेदनशीलता से जुड़े रह सकें। इतिहास प्रसिद्ध अनुभव है कि सत्ता पर अधिकार असंगठित बहुसंख्यक का नहीं संगठित अल्पसंख्यक का ही होता है। `श्रम की सत्ता' भी संगठन से ही स्थापित होती है। दलित अनुभव यह है कि संगठनहीनता के कारण श्रम की सत्ता को स्थापित करने में उसे कामयाबी नहीं मिल पायी।

xi. बदलाव प्रक्रिया से गुजर रही दुनिया के विभिन्न समाजों में आत्मान्वेषण का काम नये सिरे शुरू हुआ है। इसी परिप्रेक्ष्य में आज के `नव सामाजिक आंदोलन' की गति-मति को समझा जा सकता है। वस्तुतः युरोप केंद्रित यह `नव सामाजिक आंदोलन' `उत्तर-आधुनिक' प्रेरणा से संचालित है। यह आंदोलन न तो जीवन के आर्थिक प्रसंगों की बात करता है और न ही राजनीतिक प्रसंगों की। यह नागरिक समाज की स्वायत्तता पर ही पूरा जोर देता है। यह राज-शक्ति से स्वायत्त समाज-शक्ति की आकांक्षा रखता है। यह एक अद्भुत आकांक्षा है। अद्भुत यह कि यह आंदोलन राज और समाज के संबंधों को किसी सहजता और सातत्य के सहयोजी प्रसंग में न देखकर इन्हें एक दूसरे के धुर विरोधी के ही रूप में सामने लाता है और सामाजिक न्याय के नाम पर मानवाधिकारों का मामला उठाते हुए राज से छिटक जाने की पेशकश करता है। यह सच है कि समाज और राज दोनों एक ही नहीं हैं। जाहिर है कि समाज-शक्ति और राज-शक्ति भी एक ही नहीं हैं। लेकिन आज के समय में समाज-शक्ति हो या राज-शक्ति हो, उन्हें राजनीतिक प्रक्रियाओं की जटिलताओं से विच्छिन्न करना संभव नहीं है। यह तो ध्यान में रखना ही होगा कि राजनीति को सिर्फ राजनीतिक दलों तक सीमित मानकर चलना, हमें भटकाव में डाल दे सकता है। सही बात तो यह है कि राजनीतिक सहयोजिता की उपेक्षा से सामाजिक न्याय की अवधारणा समझ में ही नहीं आ सकती है। यद्यपि कुछ जीवन प्रसंग वर्ग संदर्भों से बाहर रहकर भी कुछ दूर

तक सार्थक ढंग से समझे जा सकते हैं, लेकिन यह कहना बचकाना ही है कि आज की एक ध्रुवीय होती जा रही दुनिया में वर्ग विलुप्त हो गये हैं। वर्ग के वैश्विक आयाम जरूर प्रकट हो रहे हैं (देखें 5 का vi) क्योंकि, `लोगों को प्रभावित करनेवाले मामले अब सिर्फ राष्ट्र की सीमाओं में सीमित नहीं हैं। एकीकृत दुनिया में लोकतांत्रिक सिद्धांतों का वैश्विक आयाम है, क्योंकि विश्व नेता और शासक राष्ट्रीय नेताओं की तरह ही उनके जीवन को प्रभावित करते हैं। हाल के दिनों में औद्योगिक और विकसित दोनों ही प्रकार के देशों में भूमंडलीकरण विरोधी अभियान में यह नया यथार्थ उभर कर सामने आया है। हालांकि, इनके विभिन्न रूप हैं और विभिन्न कार्यसूचियाँ हैं फिर भी एक बात पर इनमें साम्य है कि विश्व के गरीब लोगों की समस्याओं के लिए विश्व संस्थाएँ और विश्व नेता जबावदेह हैं। इसे आपातकालीन समस्या माननेवाले ये विरोधी अकेले नहीं हैं।'[21]

xii. संभवत: जातीय या सामाजिक उपविभाजनों के अंतर्गत वर्गबोध को समझने के साथ ही भूमंडलीय यथार्थ के अंतर्गत उसके वैश्विक आयाम को पहले की अपेक्षा अधिक आसानी से स्पष्ट किया जा सकेगा। लेकिन वर्गबोध तो रहेगा ही। दुनिया में वर्गों की अवस्थिति या वर्गविभाजन का कारण दुनिया की बहुध्रुवीयता नहीं थी, इसलिए दुनिया के एकध्रुवीय, जो हकीकत से अधिक बोध है, होने से वर्गसंरचना में ही क्या अंतर आ सकता है ! उदाहरण के लिए कहा जा सकता है कि पर्यावरण को लेकर चलनेवाला आंदोलन एक गैर-वर्गीय आंदोलन है। लेकिन क्या सचमुच ? पर्यावरण के उच्चवर्गीय, मध्यवर्गीय और कामगारों एवं आदिवासियों के जुड़ाव, प्रभाव और मुद्दे क्या बिल्कुल एक ही हैं ? `नव सामाजिक आंदोलन' समाज के वि-राजनीतिककरण पर इतना जोर देता है तो निश्चय ही इसके पीछे राजनीति की इकहरी और राजसत्तात्मक समझ ही हो सकती है। वैसे कभी-कभी वि-राजनीतिकरण की प्रक्रिया की प्रेरणाएँ भी राजनीति की अतल गहराइयों से निकल रही होती हैं! सामाजिक परिवर्त्तन के लिए किया गया कोई भी प्रयास श्रम और संपत्ति के संबंधों में बदलाव, संसाधानों के वितरण, चिरंतन विकास के लिए भूमंडलीय पर्यावरण के संदर्भों से

जोड़कर ही संभव होता है; राजनीतिक उपकरणों के उपयोग के बिना यह संभव नहीं हो सकता है।

xiii. सामाजिक परिवर्त्तन के प्रयास मार्क्सवादी और गैर-मार्क्सवादी संदर्भ से समझे जाते हैं। मार्क्सवादी दृष्टिकोण समाज में व्यापक ओर क्रांतिकारी परिवर्त्तन की आवश्यकताओं के विभिन्न स्तरों को स्पष्ट करता है। मार्क्सवाद के अनुसार सामाजिक परिवर्त्तन के आधार कारण आर्थिक संरचना में अंतर्निहित होते हैं। आज के भूमंडलीय वातावरण में वर्ग के विलोप और वर्ग के स्थान पर समुदाय की अवधारणा की सिद्धांतिकी प्रस्तावितकर विश्लेषण और संघर्ष के सबसे कारगर औजार को भोथरा किया जा रहा है। आज के समुदाय कबिलाई नहीं हैं। आज जीवन के सारे संदर्भों में वर्गविभाजन पहले से कहीं अधिक तीखा है। यह मानने में कठिनाई नहीं होनी चाहिए कि समुदाय भी वर्ग-विभक्त होता है और समाज भी। वर्ग-विभक्त समाज में श्रम और सत्ताधिकरणों के परस्पर विरोधी हितों के संघर्ष अंतर्विरोध पैदा करते हैं। सत्ताधिकरण राजशक्ति के साथ-साथ धर्म, शिक्षा, जनसंचार आदि का इस्तेमाल करते हुए शेष समाज पर अपनी हितैषी विचारधारा की लदनी करता है। इस लदनी के माध्यम से वह शेष समाज को अनुकूलित और नियंत्रित करता है। ऐसी स्थिति में सत्ताधिकरणों के वर्चस्व को तोड़ने के लिए इस लदनी को उतार फेकना जरूरी होता है। लदनी उतारने का यह काम क्रांतिकारी सामाजिक परिवर्त्तन की प्रक्रिया में ही संभव होता है। मार्क्सवादी दृष्टिकोण में संघाती आर्थिक हितों की पेचीदगियाँ ही प्रमुख रहती है। इस पर पूरा जोर दिये जाने के कारण सामजिक एकता और विभाजन के वर्गेतर आधार पर कई बार अपेक्षित ध्यान दे पाना संभव नहीं हो पाता है। इधर सामाजिक एकता और विभाजन के अन्य आधार के रूप में जातीयता और धर्म सहित अन्य सांस्कृतिक कारकों की ओर भी समुचित ध्यान दिये जाने की आवश्यकता महसूस की जाने लगी है। अब सांस्कृतिक संदर्भों का नये सिरे से मूल्याँकन करने और वर्ग चेतना के विकास की एक रेखीय अवधारणा की जगह उसकी बहुआयामिता की ओर भी ध्यान दिया

जाना आवश्यक माना जा रहा है। बहुआयामिता पर ध्यान देते हुए भी हमें वर्गीय चेतना के संदर्भ में संरचनागत अंतर्विरोधों पर भी ध्यान बनाये रखना होगा।

6. दलित राजनीति की सीमा और संभावना

i. `दलित विमर्श की भूमिका' में कँवल भारती के निष्कर्ष से दलित राजनीति की सीमा और संभावना पर बात शुरू की जा सकती है। उनका निष्कर्ष है , `डा. आंबेडकर ने कहा था कि दलित समान विचारधारा वाले दलों से मिलकर अपनी राजनीतिक शक्ति बना सकते हैं। लेकिन दलितों के लिए समान विचारधारावाला दल न काँग्रेस है और न भाजपा, वह मार्क्सवादी दल ही हो सकता है। पर मौजूदा मार्क्सवादी दल भाजपा और काँग्रेस के ही लग्गू-भग्गू बने हुए हैं। इसलिए रेडिकल मार्क्सवाद के साथ रेडिकल आंबेडकरवाद के गठन की सख्त जरूरत है। डा. राजाराम की मानें तो तो रूस में मार्क्सवाद के साथ लेनिनवाद को मिलाकर रूसी जनता ने क्रांति की, चीन में मार्क्सवाद के साथ माओवाद को मिलाकर चीनी जनता ने क्रांति की, तो भारत में मार्क्सवाद के साथ आंबेडकरवाद को मिलाकर क्रांति क्यों नहीं हो सकती ?'[22] काँग्रेस की बात कुछ-कुछ समझ में आ सकती है। लेकिन भाजपा ? गंभीर चिंतन के निष्कर्ष को तत्काल के ऐसे दबावों ओर भटकावों से बचाना नहीं चाहिए ? तत्काल के ऐसे दबावों से कई सीमाएँ निकल आती हैं। `मार्क्सवाद के साथ लेनिनवाद को मिलाकर रूसी जनता ने क्रांति की' किसके नेतृत्व में की ? लेनिन के नेतृत्व में ! `चीन में मार्क्सवाद के साथ माओवाद को मिलाकर चीनी जनता ने क्रांति की' किसके नेतृत्व में की ? माओ के नेतृत्व में ! `भारत में मार्क्सवाद के साथ आंबेडकरवाद को मिलाकर क्रांति' किसके नेतृत्व में हो सकती थी ? अंबेदकर के नेतृत्व में ! क्यों नहीं हो सकी ? इसका जवाब कौन देगा ? `समान विचारधारा' का सुझाव देनेवाले डॉ. अंबेदकर का `असमान विचारधारावाले' काँग्रेस के साथ मिलाप और कम्युनिस्ट पार्टी के साथ उनके संबंधों की व्याख्या में भी कठिनाई आ सकती है। इतिहास से संवाद करने की जरूरत होती है, बार-बार होती है, लेकिन इतिहास का मुँह चिढ़ाना इतिहास से संवाद करना नहीं होता है। क्रांति एक चमक है। इससे चौंधिया जाने के बहुत सारे अवसर आते हैं। क्रांति का

अपना रोमान होता है, लेकिन रोमान से क्रांति नहीं होती। काश कि क्रांति इतनी आसान हुआ करती ! बहरहाल आज की राजनीति की समस्या ओर दलित राजनीति की समस्या और इन समस्याओं के पारस्परिक सरोकारों पर बात करते हुए आज की राजनीतिक चुनौतियों के भारतीय परिप्रेक्ष्य पर बात करना अधिक प्रासंगिक है।

ii.`विविधता में एकता' को `फैलाकर विषमता में एकता' तक भी चाहे क्यों न ले जाया जाए, सच तो यह है कि भारतीयता परिप्रेक्ष्य बुरी तरह विभंजित रहा है। इस विभंजन में कई कारकों की सक्रिय भूमिका होती है। यहाँ दलित सिर्फ दलित नहीं होता है, मराठी, हिंदी, पंजाबी, काँग्रेसी, बहुजनवादी, भाजपाई, दरिद्र-अमीर शिक्षित-अशिक्षित दलित भी होता है। `हम' और `अन्य' के निर्धारण के ढेर-सारे वास्तविक और आभासी कारक एक साथ सक्रिय रहते हैं। इन कारकों में अंतर्विरोध ही नहीं, अंतर्व्याघात भी होता है। इन कारकों को स्थगित या निष्क्रिय करना बहुत मुश्किल है। मार्क्सवाद के पूर्ण जानकार और उस पर भरपूर भरोसा रखनेवाले भी अपने घर में बैठे-बैठे कम्युनिस्ट नहीं हो जाते हैं। कम्युनिस्ट होने के लिए जरूरी है, संगठित होना, संगठित करना, बदलाव की रणनीति पर संगठित और सुनियोजित तरीके से अमल करना, समाज के वर्गीय आधार की समझ और सहानुभूति को तीव्रता के साथ उभारना। कम्युनिस्ट अपने-आप में महाविशेषण है। इसके साथ आनेवाला दूसरा विशेषण या तो खुद खंडित हो जाता है, या इसे खंडित कर देता है। जिस प्रकार `ब्राह्मण कम्युनिस्ट', `राजपूत कम्युनिस्ट', `हिंदी कम्युनिस्ट', `बंगाली कम्युनिस्ट' आदि नहीं होता है उसी प्रकार `दलित कम्युनिस्ट' भी नहीं हो सकता है। लेकिन हमारी मुसीबत यह है कि हमारे यहाँ `ब्राह्मण कम्युनिस्ट' और `दलित कम्युनिस्ट' हो सकते हैं। `हिंदी कम्युनिस्ट' या `बंगाली कम्युनिस्ट' भी होते हैं ! माना जाना चाहिए कि कम्युनिस्ट होना थोड़ा मुश्किल काम है। वर्गीय आधार के अनुसार व्यवहार तक पहुँचने के पहले वर्गेतर आधारों को समझना और उसे निष्प्रभ करना दायित्व है।

iii. वर्ग-स्वार्थ के अलावे भी इसके कारणों की खोज की जानी चाहिए। पहली नजर में तो यह भी लगता है कि उच्च वर्ण से संबंधित वे लोग भी जिन्हें वर्ग-स्वार्थ के कारण

स्वाभाविक रूप से दलित-स्वार्थ के निकट होना चाहिए या हैं, वर्गीय आधार को अस्वीकृतकर उभरती हुई दलित संदर्भ की `प्रतिरोधी चेतना' को `प्रतिशोधी चेतना' मानकर डरे और बिदके रहते हैं। इस डर के कारण ही दलित सवाल के उठते ही सवर्ण मेधा बौखला जाती है। दूसरी बात , संवेदनशील और व्यापक अर्थ में प्रगतिशील सवर्ण इस बात से भी बौखलाये हुए रहते हैं कि जिस हिंदुत्ववादी राजनीतिक शक्ति के मनुष्य-विरोधी होने की बात उनके मन में गहरे जमी हुई रहती है उसी के साथ `दलित राजनीति' के प्रतिनिधियों के द्वारा उन्हें जोड़ दिया जाता है। वे इस राजनीतिक शक्ति और चेतना से विजड़ित किये जाने की स्थिति से भी बहुत विचलित होते हैं। तीसरी बात, संवेदनशील सवर्ण के सामने अपने तथाकथित संस्कारों या कु-संस्कारों से साथ आंतरिक आत्म-संघर्ष (सामाजिक संघर्ष चल नहीं रहा और जो आंतरिक आत्म-संघर्ष सामाजिक-संषर्ष की सक्रियता में शीघ्रता से बदल नहीं जाता है, वह अ-क्रिय आंतरिक आत्म-संघर्ष स्वाभाविक रूप से अविश्वसनीय होता जाता है) की व्यावहारिक विश्वसनीयता बहाल रखने की चुनौती के अलावे एक बड़ी कठिनाई यह है कि दलितवादी दलितों की नजर में वे अपने सवर्ण होने के अर्थ को उसी तरह बदल नहीं पाते हैं, जिस तरह अपने दलित होने के अर्थ को हिंदुत्ववादी सवर्णों की नजर में दलित नहीं बदल पाते हैं। यह दुष्चक्र है। यानी अपने मूल्यांकन के लिए जिस आधार को नकारा जाता है, दूसरों के मूल्यांकन के लिए उसी आधार को दृढ़ता से स्वीकार कर लिया जाता है। इस दुष्चक्र को तोड़ना `दलित राजनीति' की समसया है।

iv. सहानुभूति बनाम स्वानुभूति के द्वंद्व को समझना जरूरी है। अक्सर कहा जाता है कि `घोड़ा को समझने के लिए घोड़ा होना जरूरी नहीं है'। इस रूपक के नव्य-न्याय का तर्क इतना संगत नहीं है कि इससे सहानुभूति बनाम स्वानुभूति के द्वंद्व की गुत्थी खुल जाये। इस नव्य-न्याय का तर्क सामने रखने के बाद शीघ्रता से नैय्यायिक लोग भावानुप्रवेश जैसे महत्त्वपूर्ण मनोवैज्ञानिक सूत्र का सहारा लेते हैं। यह भावनुप्रवेश क्या है ? यही न कि जो वह नहीं है, मनोवैज्ञानिक रूप से वह होकर उसके जैसा अनुभव करना। इसके अतिरिक्त

भावनुप्रवेश का क्या अर्थ हो सकता है ? भावानुप्रवेश के माध्यम से `घोड़ा बनने के लिए तैयार रहना', `घोड़ा' को समझने के अधिकार की शर्त है। न सिर्फ तैयार रहना, बल्कि अधिकतम संभाव्य स्तर तक `घोड़ा' बनने में सक्षम और ईमानदार होना भी। `घोड़ा' के दुख पर बात करेंगे और `घोड़ा' बनना भी नहीं चाहेंगे ! यह नहीं चलेगा। `डि-क्लास' होने की जरूरत खत्म तो नहीं हो गई है ! धूमिल ने झूठ थोड़े न कहा था कि लोहा का स्वाद लुहार और घोड़े, जिसके मुँह में लगाम होती है, एक ही नहीं होता है। दुखी तो सभी हैं। `घोड़ा' भी और `घुड़सवार' भी। लेकिन `घोड़ा' और `घुड़सवार' का दुख एक ही हो, यह कैसे हो सकता है ? इसलिए दलित संदर्भ को समझने में `स्वानुभूति' और `सहानुभूति' के मुद्दे पर नव्य-न्याय का तर्क असंगत है। `दलित राजनीति' की समस्याएँ सिर्फ अवधारणाओं के आधार पर समझना मुष्किल है, इसके लिए सामाजिकताओं के अंदर सम्मान के अवसर की परित्यक्त मनोभूमि की पैमाइश से भी कुछ हद तक जरूरी है। स्वानुभूति के अभाव की प्रतिपूरक ही सहानुभूति हो सकती है, विस्थापक नहीं। कहना न होगा, सहानुभति वस्तुतः स्वानुभूति का ही विस्तार है, एवजी नहीं। `जाके पैर न फटे बेवाई, वो क्या जाने पीर पराई', तो बाबा तुलसीदास ही कह गये हैं। यदि दलित-समाज को लगता है कि उनके दुख का उतना भी निदान मुख्यधारा की सहानुभूतिमूलक राजनीति से नहीं हुआ जितना कि जनतंत्र में सामान्यतः संभव हुआ करता है और इसलिए वे मुख्यधारा की राजनीति से अलग `दलित राजनीति' की और बढ़ रहे हैं, तो इसे समझना होगा। आजादी के इतने दिनों के बाद भी दलितों की सामाजिकता के सवाल, हजारों वर्ष पुरानी गुत्थियों से प्राणरस ग्रहण कर रहे हैं, तो क्या कहा जाये ! दुख को तर्क से व्याख्यायित किया जा सकता है लेकिन जरूरी नहीं कि वह व्याख्या संवेदना का भी हिस्सा बन ही जाये। असल में यह सवर्ण डर है जो बुद्धि और चेतना को कुतर्क के पथ पर भटकाता है। इस डर को पहचानने की जरूरत है। पहचानेंगे नहीं तो लड़ेंगे क्या ? कौन पहचानेगा ? यह काम `दलित राजनीति' और `वामपंथी राजनीति' दोनों को मिलकर करना होगा। `दलित राजनीति' और `वामपंथी राजनीति' दोनों के सामने एक दूसरे की संभावनाओं को समझते हुए अपनी सीमाओं का अतिक्रमण कर मिलने की पहल करने की गहरी चुनौती है।

v. दलितों के दुख को नहीं समझा गया तो `स्वतंत्रता, समता और बंधुत्व' को नव-साम्राज्यवाद के विस्तार की आकांक्षा से उपजी फासीवादी बर्बरता, जिसका एक सिरा पुरातन धर्म से जुड़ा है तो दूसरा सिरा नूतन पूँजी-बाजार से जुड़ा है, की चपेट में आने से बचाना मुश्किल है। वैसे भी, नाना ऐतिहासिक कारणों से वर्गीय आधार पर समूह बनने की पुष्ट संभावना के नहीं होने के कारण ही धर्म के आधार पर समूह बनता है और संप्रदायबोध को सामाजिक आधार प्रदान करता है। समाज इस अनुचित आधार पर बँटकर पहले से लहुलुहान है। दलित-चेतना के विश्वसनीय वर्गीय आधार की शीघ्र तलाश न की जा सकी तो भारतीय समाज के आंतरिक विभाजन की दरारों को पाटना तो दूर, उनकी फाट रोकना भी बहुत ही मुश्किल होगा। इस तलाश के लिए दलित दुख को महसूस करना होगा। इसके लिए किसी पूर्वनिर्धारित और कदाचित उससे भी अधिक तात्कालिक राजनीतिक लाइन से थोड़ा अलग होकर भी सोचने की जरूरत है।

vi. अभी की राजनीतिक लाइन से हटने का मतलब है संसदीय प्रक्रियाओं की तात्कालिक बाध्यताओं पर काबू पाते हुए दीर्घकालिक राजनीति के जोखिमों को उठाने की तैयारी करना। `विरोधाभासी जीवन' (देखें 4 का vi) की विसंगतियों को दूर करने, `स्वतंत्रता, समता और बंधुत्व' को हासिल करने के लिए `हिंदुत्व' (देखें 1 का vi) और `उदारीकरण-निजीकरण-भूमंडलीकरण' से संघर्ष को एक साथ एवं सकारात्मक ढंग से चलाने के लिए `दलित राजनीति' और `वामपंथी राजनीति' को नई समझदारी और सहमेल की नई गुंजाइश विकसित करनी होगी। इस गुंजाइश का न बनना अपने-आप में समस्याओं की जड़ है। एक सामान्य भारतीय संस्कृति के विकास के लिए यह जरूरी है, क्योंकि, `यह बात माननी ही होगी कि ऐतिहासकि रूप से एक सामन्य भारतीय संस्कृति का अस्त्त्वि कभी नहीं रहा है। ऐतिहासिक रूप से भारत तीन रहा है, ब्राह्मण भारत, बौद्ध भारत और हिंदू भारत। इन तीनों की अपनी अलग-अलग संस्कृति रही है। .... यह बात भी माननी होगी कि मुसलमानों के वर्चस्व के पहले ब्राह्मणवाद और बौद्धवाद के बीच गहरे नैतिक संघर्ष का भी इतिहास रहा है।'[23] जाहिर है जब `पूँजी की सत्ता' अधिराष्ट्रीय हुई जा रही है, `श्रम की

सत्ता' को बचाने के लिए राष्ट्रीय सरोकारों को नये सिरे से टटोलना होगा तभी `सही अंतर्राष्ट्रीयता', `आंकाक्षित पर्यावरणीय भूमंडलीकरण' और `विश्वमानवतावाद' की नवनैतिकता का विकास हो पायेगा। इसके लिए `आत्म निर्णय का अधिकार' ही काफी नहीं है, `आत्मान्वेषण का धैर्य', `आत्मसंयोजन का साहस' और `आत्म विस्तार का विवेक' भी चाहिए; और इन सब को नये सिरे से संगठित करने की इच्छा-क्रिया-शक्ति भी चाहिए। तभी फ़ैज को दुहराने का साहस करते हुए कोई कह सकेगा कि `ऐ ख़ाक-नशीनों उठ बैठो, वो वक़्त क़रीब आ आ पहुँचा है / जब तख़्त गिराये जायेंगे, जब ताज उछाले जायेंगे / अब टूट गिरेंगी ज़ंजीरें, अब ज़िन्दानो[24] की खैर नहीं / जो दरिया झूम के उट्ठे हैं, तिनकों से न टाले जायेंगे'[25]। लोग जुटेंगे और जंजीरें टूटेंगीं। जंजीरें टूटती आई हैं, जंजीरें टूटेंगी और जरूर टूटेंगी।

---

[1] मानव विकास रिपोरटः1996 (HDR-1996 : Growth as ameans to human development)

[2] Gail Omvedt : Ambedkar and After: The Dalit Movement in India: Social Movements and the State, Edit. Ghanshyam Sahah (Sage Pub.2002) ý

[3] `Interwoven' के अर्थ में

[4] भारतेंदु हरिश्चंद्र की प्रसिद्ध उक्ति

[5] एम के गाँधीः वर्णाश्रम धर्म, नवजीवन ट्रस्ट, 1926

[6] सुमित सरकारः आधुनिक बारत-1885-1947 : राजकमल प्रकाशनः हरिजन आंदोलन

[7] सुमित सरकारः आधुनिक बारत-1885-1947 : राजकमल प्रकाशनः हरिजन आंदोलन

[8] रामशरण शर्माः प्राचीन भारत में राजनीतिक विचार एवं संस्थाएः परिशिष्ट – 2: गोपति से भूपतिः राजकमल प्रकाशनः 5वीं आवृत्ति 2001

[9] सुमित सरकारः आधुनिक बारत-1885-1947 : राजकमल प्रकाशनः हरिजन आंदोलन

[10] रवींद्रनाथ ठाकुरः भारत में राषट्रीयता 1917: सामाजिक क्रांति के दस्तावेदः सं. डॉ शंभुनाथः वाणी प्रकाशन 2004

[11] सुमित सरकारः आधुनिक बारत-1885-1947 : राजकमल प्रकाशनः हरिजन आंदोलन

[12] Gail Omvedt : Ambedkar and After: The Dalit Movement in India: Social Movements and the State, Edit. Ghanshyam Sahah (Sage Pub.2002)

[13] भीमराव अंबेडकरः संविधान सभा में दिये गये भाषण सेः सामाजिक क्रांति के दस्तावेज-2:सं. डॉ शंभुनाथः वाणी प्रकाशन, 2004

[14] सुमित सरकारः आधुनिक बारत-1885-1947 : राजकमल प्रकाशनः हरिजन आंदोलन

[15] सुमित सरकारः आधुनिक बारत-1885-1947 : राजकमल प्रकाशनः हरिजन आंदोलन

[16] भीमराव अंबेडकरः संविधान सभा, नवंबर 1949 में दिये गये भाषण सेः सामाजिक क्रांति के दस्तावेज-2:सं. डॉ शंभुनाथः वाणी प्रकाशन, 2004

[17] `Reservation Cover' के अर्थ में

[18] Huntington : Clashes of Civilization

[19] `Trans-Naionality' ‡ãñŠ ,ã©ãÃ ½ãòý

[20] `corresponding' के अर्थ में

[21] मानव विकास रिपोर्ट 2002

[22] कँवल भारतीः दलित विमर्श की भूमिकाः पुनश्च – दलित और वामः कुछ जरूरी सवालः इतिहासबोध प्रकाशन, 2 परि. सं. 2004

[23] Dr. Babasaheb Ambedkar : "Revolution and Counter Revolution in Ancient India" Writings and speeches, Volume 3 (Bombay Govt of Maharashtra, 1987)

[24] जेलखाना

[25] फ़ैज अहमद फ़ैजः प्रतिनिधि कविताएः राजकमल पेपर बैक्स – 2003 : तराना

-------000-------

पूंजीवाद एक प्रेत कथा-भाग एक

पूंजीवाद एक प्रेत कथा-भाग एक

Author: अरुंधति रॉय *Edition :* May 2012 *Translation :* भारत भूषण

Antila New Home of Mukesh Ambani

[***आज हम प्रस्तुत कर रहें हैं अरुंधति राय द्वारा लिखित और भारत भूषण द्वारा अनूदित तीन भागों की श्रृंखला*** "पूंजीवाद एक प्रेत कथा" ***का पहला लेख। यह लेख आउटलुक से*** साभार ***लिया गया है।***]

यह मकान है या घर? नए भारत का मंदिर है या उसके प्रेतों का डेरा? जब से मुम्बई में अल्टामॉन्ट रोड पर रहस्य और बेआवाज सरदर्द फैलाते हुए एंटिला का पदार्पण हुआ है, चीजें पहले जैसी नहीं रहीं। 'ये रहा', मेरे जो मित्र मुझे वहां ले गए थे उन्होंने कहा, ' हमारे नए शासक को सलाम बजाइये।'

एंटिला भारत के सबसे अमीर आदमी मुकेश अंबानी का है। आज तक के सबसे महंगे इस आशियाने के बारे में मैंने पढ़ा था, सत्ताईस मंजिलें, तीन हेलीपैड, नौ लिफ्टें, हैंगिंग गार्डन्स, बॉलरूम्स, वेदर रूम्स, जिम्नेजियम, छह मंजिला पार्किंग, और छह सौ नौकर-चाकर। आड़े खड़े लॉन की तो मुझे अपेक्षा ही नहीं थी- 27 मंजिल की ऊंचाई तक चढ़ती घास की दीवार, एक विशाल धातु के ग्रिड से जुड़ी हुई। घास के कुछ सूखे टुकड़े थे; कुछ आयताकार चकत्तियां टूटकर गिरी हुई भी थीं। जाहिर है, 'ट्रिकल डाउन' (समृद्धि के बूंद-बूंद रिस कर निम्न वर्ग तक पहुंचने का सिद्धांत) ने काम नहीं किया था।

मगर 'गश-अप' (ऊपर की ओर उबल पर पहुंचने का काम) जरूर हुआ है। इसीलिए 120 करोड़ लोगों के देश में, भारत के 100 सबसे अमीर व्यक्तियों के पास सकल घरेलू उत्पाद (जीडीपी) के एक चौथाई के बराबर संपत्ति है।

राह चलतों में (और न्यूयार्क टाइम्स में भी) चर्चा का विषय है, या कम-अज-कम था, कि इतनी मशक्कत और बागवानी के बाद अंबानी परिवार एंटिला में नहीं रहता। पक्की खबर किसी को नहीं। लोग अब भी भूतों और अपशकुन, वास्तु और फेंगशुई के बारे में कानाफूसियां करते हैं। या शायद ये सब कार्ल मार्क्स की गलती है। उन्होंने कहा था,

पूंजीवाद ने 'अपने जादू से उत्पादन के और विनिमय के ऐसे भीमकाय साधन खड़े कर दिए हैं, कि उसकी हालत उस जादूगर जैसी हो गई है जो उन पाताल की शक्तियों को काबू करने में सक्षम नहीं रहा है जिन्हें उसी ने अपने टोने से बुलाया था। '

भारत में, हम 30 करोड़ लोग जो नए, उत्तर-आइएमएफ (अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष) 'आर्थिक सुधार' मध्य वर्ग का हिस्सा हैं उनके लिए – बाजार – पातालवासी आत्माओं, मृत नदियों के सूखे कुओं, गंजे पहाड़ों और निरावृत वनों के कोलाहलकारी पिशाच साथ-साथ रहते हैं: कर्ज में डूबे ढाई लाख किसानों के भूतों जिन्होंने खुद अपनी जान ले ली थी, और वे 80 करोड़ जिन्हें हमारे लिए रास्ता बनाने हेतु और गरीब किया गया और निकाला गया के साथ-साथ रहते हैं जो बीस रुपए प्रति दिन से कम में गुजारा करते हैं।

मुकेश अंबानी व्यक्तिगत तौर पर 2,000 करोड़ डॉलर (यहां तात्पर्य अमेरिकी से), जो मोटे तौर पर 10 लाख करोड़ रुपए से ज्यादा ही होता है, के मालिक हैं। रिलायंस इंडस्ट्रीज लिमिटेड (आरआइएल), 4,700 करोड़ डॉलर (रु. 23,5000 करोड़) की मार्केट कैपिटलाइजेशन वाली और वैश्विक व्यवसायिक हितों, जिनमें पेट्रोकेमिकल्स, तेल, प्राकृतिक गैस, पॉलीस्टर धागा, विशेष आर्थिक क्षेत्र, फ्रेश फूड रीटेल, हाई स्कूल, जैविक विज्ञान अनुसंधान, और मूल कोशिका संचयन सेवाओं (स्टेम सैल स्टोरेज सर्विसेज) शामिल हैं, में वे बहुतांश नियंत्रक हिस्सा रखते हैं। आरआइएल ने हाल ही में इंफोटेल के 95 प्रतिशत शेयर खरीदे हैं। इंफोटेल एक टेलीविजन संकाय (कंजोर्टियम) है जिसका 27 टीवी समाचार और मनोरंजन चैनलों पर नियंत्रण है इनमें सीएनएन-आइबीएन, आइबीएन लाइव, सीएनबीसी,आइबीएन लोकमत और लगभग हर क्षेत्रीय भाषा का ईटीवी शामिल है। इंफोटेल के पास फोर-जी ब्रॉडबैंड का इकलौता अखिल भारतीय लाइसेंस है; फोर-जी ब्रॉडबैंड "तीव्रगति सूचना संपर्क व्यवस्था(पाइप लाइन)" है जो, अगर तकनीक काम कर गई तो, भविष्य का सूचना एक्सचेंज साबित हो सकती है। श्रीमान अंबानी जी एक क्रिकेट टीम के भी मालिक हैं।

आरआइएल उन मुट्ठी भर निगमों (कॉर्पोरेशनों) में एक है जो भारत को चलाते हैं। दूसरे निगम हैं टाटा, जिंदल, वेदांता, मित्तल, इंफोसिस, एसार और दूसरी रिलायंस (अनिल धीरूभाई अंबानी ग्रुप अर्थात एडीएजी) जिसके मालिक मुकेश के भाई अनिल हैं। विकास के लिए उनकी दौड़ योरोप, मध्य एशिया, अफ्रीका और लातिन अमेरिका तक पहुंच गई है। उन्होंने

दूर-दूर तक जाल फैलाए हुए हैं; वे दृश्य हैं और अदृश्य भी, जमीन के ऊपर हैं और भूमिगत भी। मसलन, टाटा 80 देशों में 100 से ज्यादा कंपनियां चलाते हैं। वे भारत की सबसे पुरानी और विशालतम निजी क्षेत्र की बिजली पैदा करनेवाली कंपनियों में से हैं। वे खदानों, गैस क्षेत्रों, इस्पात प्लांटों, टेलीफोन, केबल टीवी और ब्रॉडबैंड नेटवर्क के मालिक हैं और समूचे नगरों को नियंत्रित करते हैं। वे कार और ट्रक बनाते हैं, ताज होटल श्रंखला, जगुआर, लैंड रोवर, देवू, टेटली चाय, प्रकाशन कंपनी, बुकस्टोर श्रंखला, आयोडीन युक्त नमक के एक बड़े ब्रांड और सौंदर्य प्रसाधन की दुनिया के बड़े नाम लैक्मे के मालिक हैं। आप हमारे बिना जी नहीं सकते: बड़े आराम से उनके विज्ञापन की यह टैगलाइन हो सकती है।

ऊपर को बढ़ो वचनामृत के अनुसार, आप के पास जितना ज्यादा है, उतना ही ज्यादा आप और पा सकते हैं।

कारोबारियों का साकार होता सपना

हर चीज के निजीकरण के युग ने भारतीय अर्थव्यवस्था को दुनिया में सबसे तेजी से बढ़ती अर्थव्यवस्था बना दिया है। फिर भी, किसी पुराने ढंग के अच्छे उपनिवेश की भांति, इसका मुख्य निर्यात इसके खनिज ही हैं। भारत के नए भीमकाय निगम (मेगा-कॉर्पोरेशन) – टाटा, जिंदल, एसार, रिलायंस, स्टरलाइट – वे हैं जो धक्कामुक्की करके उस मुहाने तक पहुंच गए हैं जो गहरे धरती के अंदर से निकाला गया पैसा उगल रहे हैं। कारोबारियों का तो जैसे सपना साकार हो रहा है – वे वह चीज बेच रहे हैं जो उन्हें खरीदनी नहीं पड़ती।

कॉर्पोरेट संपत्ति का दूसरा मुख्य स्रोत है उनकी भूमि के भंडार। दुनिया भर में कमजोर और भ्रष्ट स्थानीय सरकारों ने वॉल स्ट्रीट के दलालों, कृषि-व्यवसाय वाले निगमों और चीनी अरबपतियों को भूमि के विशाल पट्टे हड़पने में मदद की है। (खैर इसमें पानी नियंत्रण तो शामिल है ही)। भारत में लाखों लोगों की भूमि अधिग्रहित करके निजी कॉर्पोरेशनों को – विशेष आर्थिक क्षेत्रों (एसईजेड), आधारभूत संरचना (इन्फ्रास्ट्रक्चर) परियोजनाओं, बांध, राजमार्गों, कार निर्माण, रसायन केंद्रों, और फॉर्मूला वन रेसों के लिए 'जन हितार्थ' दी जा

रही है। (निजी संपत्ति की संवैधानिक पवित्रता गरीबों के लिए कभी लागू नहीं होती)। हर बार स्थानीय लोगों से वादे किए जाते हैं कि अपनी भूमि से उनका विस्थापन या जो कुछ भी उनके पास है उसका हथियाया जाना वास्तव में रोजगार निर्माण का हिस्सा है। मगर अब तक हमें पता चल चुका है कि सकल घरेलू उत्पाद की दर में वृद्धि और नौकरियों का संबंध एक छलावा है। 20 सालों के 'विकास' के बाद भारत की श्रमशक्ति का साठ प्रतिशत आबादी स्वरोजगार में लगी है और भारत के श्रमिकों का 90 प्रतिशत हिस्सा असंगठित क्षेत्र में कार्य करता है।

आजादी के बाद, अस्सी के दशक तक, जन आंदोलन, नक्सलवादियों से लेकर जयप्रकाश नारायण के संपूर्ण क्रांति आंदोलन तक, भूमि सुधारों के लिए, सामंती जमींदारों से भूमिहीन किसानों को भूमि के पुनर्वितरण के लिए लड़ रहे थे। आज भूमि और संपत्ति के पुनर्वितरण की कोई भी बात न केवल अलोकतांत्रिक बल्कि पागलपन मानी जाएगी। यहां तक कि सर्वाधिक उग्र आंदोलनों तक को घटा कर, जो कुछ थोड़ी सी जमीन लोगों के पास रह गई है, उसे बचाने के लिए लडने पर पहुंचा दिया गया है। गांवों से खदेड़े गए, छोटे शहरों और महानगरों की गंदी बस्तियों और झुग्गी-झोपडियों में रहने वाले दसियों लाख भूमिहीन लोगों का, जिनमें बहुसंख्य दलित एवं आदिवासी हैं, रेडिकल विमर्श तक में कोई उल्लेख नहीं होता।

जब गश-अप उस चमकती पिन की नोक पर संपत्ति जमा करता जाता है जहां हमारे अरबपति घिरनी खाते हैं, तब पैसे की लहरें लोकतांत्रिक संस्थाओं पर थपेड़े खाती हैं- न्यायालय, संसद और मीडिया पर भी, और जिस तरीके से उन्हें कार्य करना चाहिए उसे गंभीर जोखिम में डाल देती हैं। चुनावों के दौरान के तमाशे में जितना अधिक शोर होता है, हमारा विश्वास उतना ही कम होता जाता है कि लोकतंत्र सचमुच जीवित है।

भारत में सामने आनेवाले हर नए भ्रष्टाचार के मामले के सामने उसका पूर्ववर्ती फीका लगने लगता है। 2011 की गर्मियों में टू-जी स्पेक्ट्रम घोटाला सामने आया। पता चला कि कॉर्पोरेशनों ने एक मददगार सज्जन को केंद्रीय दूरसंचार मंत्री बनवाकर चार हजार करोड़ डॉलर (दो लाख करोड़) सार्वजनिक धन खा लिया, उन महोदय ने टू-जी दूरसंचार स्पेक्ट्रम की कीमत बेहद कम करके आंकी और अपने यारों के हवाले कर दिया। प्रेस में लीक हुए

टेलीफोन टेप संभाषणों ने बताया कि कैसे उद्योगपतियों का नेटवर्क और उनकी अग्र कंपनियां, मंत्रीगण, वरिष्ठ पत्रकार और टीवी एंकर इस दिनदहाड़े वाली डकैती की मदद में मुब्तिला थे। टेप तो बस एक एमआरआई थे जिन्होंने उस निदान की पुष्टि की जो लोग बहुत पहले कर चुके थे।

निजीकरण और दूरसंचार स्पेक्ट्रम की अवैध बिक्री में युद्ध, विस्थापन और पारिस्थितिकीय विनाश शामिल नहीं हैं। मगर भारत के पर्वतों, नदियों और वनों के मामले में ऐसा नहीं है। शायद इसलिए कि इसमें खुल्लमखुल्ला लेखापद्धति घोटाले जैसी स्पष्ट सरलता नहीं है, या शायद इसलिए कि यह सब भारत के 'विकास' के नाम पर किया जा रहा है, इस वजह से मध्य वर्ग के बीच इसकी वैसी अनुगूंज नहीं है।

कैसा संयोग?

2005 में छत्तीसगढ़, ओडिशा और झारखंड की राज्य सरकारों ने बहुत सारे निजी कॉर्पोरेशनों के साथ सैकड़ों समझौता-पत्रों (एमओयू) पर दस्तखत कर मुक्त बाजार के विकृत तर्क को भी धता बताकर खरबों रुपए के बॉक्साइट, लौह अयस्क और अन्य खनिज उन्हें कौड़ियों के दाम दे दिए। (सरकारी रॉयल्टी 0.5 प्रतिशत से 7 प्रतिशत के बीच थी।)

टाटा स्टील के साथ बस्तर में एक एकीकृत इस्पात संयंत्र के निर्माण के लिए छत्तीसगढ़ सरकार के समझौतापत्र पर दस्तखत किए जाने के कुछ ही दिनों बाद सलवा जुडूम नामक एक स्वयंभू सशस्त्र अर्धसैनिक बल का उद्घाटन हुआ। सरकार ने बताया कि सलवा जुडूम जंगल में माओवादी छापामारों के 'दमन' से त्रस्त स्थानीय लोगों का स्वयंस्फूर्त विद्रोह है। सलवा जुडूम सरकार वित्त और शस्त्रों से लैस तथा खनन निगमों से मिली सब्सिडी प्राप्त एक आधारभूमि तैयार करने का ऑपरेशन निकला। दीगर राज्यों में दीगर नामों वाले ऐसे ही अर्धसैनिक बल खड़े किए गए । प्रधानमंत्री ने घोषणा की कि माओवादी 'सुरक्षा के लिए भारत में एकमात्र और सबसे बड़ा खतरा हैं'। यह जंग का ऐलान था।

2 जनवरी, 2006 को पड़ोसी राज्य ओडिशा के कलिंगनगर जिले में, शायद यह बताने के लिए कि सरकार अपने इरादों को लेकर कितनी गंभीर है, टाटा इस्पात कारखाने की दूसरी जगह पर पुलिस की दस पलटनें आईं और उन गांव वालों पर गोली चला दी जो वहां विरोध प्रदर्शन के लिए इकट्ठा हुए थे। उनका कहना था कि उन्हें जमीन के लिए जो मुआवजा मिल रहा है वह कम है। एक पुलिसकर्मी समेत 13 लोग मारे गए और सैंतीस घायल हुए। छह साल बीत चुके हैं, यद्यपि सशस्त्र पुलिस द्वारा गांव की घेरेबंदी जारी है मगर विरोध ठंडा नहीं पड़ा है।

इस बीच सलवा जुडूम छत्तीसगढ़ में वनों में बसे सैकड़ों गांवों से आग लगाता, बलात्कार और हत्याएं करता बढ़ता रहा। इसने 600 गांवों को खाली करवाया, 50,000 लोगों को पुलिस कैंपों में आने और 350,000 लोगों को भाग जाने के लिए विवश किया। मुख्यमंत्री ने घोषणा की कि जो जंगलों से बाहर नहीं आएंगे उन्हें 'माओवादी उग्रवादी' माना जायेगा। इस तरह, आधुनिक भारत के हिस्सों में, खेत जोतने और बीज बोने जैसी कामों को आतंकवादी गतिविधियों के तौर पर परिभाषित किया गया। कुल मिला कर सलवा जुडूम के अत्याचारों ने माओवादी छापामार सेना के संख्याबल में बढ़ोत्तरी और प्रतिरोध में मजबूती लाने में मदद की। सरकार ने 2009 में वह शुरू किया जिसे ऑपरेशन ग्रीन हंट कहा जाता है। छत्तीसगढ़, ओडिशा, झारखंड और पश्चिम बंगाल में अर्धसैनिक बलों के दो लाख जवान तैनात किए गए।

तीन वर्ष तक चले 'कम तीव्रता संघर्ष' के बाद जो बागियों को जंगलों से बाहर 'फ्लश' (एक झटके में बाहर निकालने) करने में कामयाब नहीं हो पाया, केंद्र सरकार ने घोषणा की कि वह भारतीय सेना और वायु सेना तैनात करेगी। भारत में हम इसे जंग नहीं कहते। हम इसे 'निवेश के लिए अच्छी स्थितियां तैयार करना' कहते हैं। हजारों सैनिक पहले ही आ चुके हैं। ब्रिगेड मुख्यालय और सैन्य हवाई अड्डे तैयार किए जा रहे हैं। दुनिया की सबसे बड़ी सेनाओं में से एक सेना अब दुनिया के सबसे गरीब, सबसे भूखे, और सबसे कुपोषित लोगों से अपनी 'रक्षा' करने के लिए लड़ाई की शर्तें (टर्म्स ऑफ एंगेजमेंट) तैयार कर रही है। अब महज आर्म्ड फोर्सेस स्पेशल पावर्स एक्ट (एएफएसपीए) के लागू होने का इंतजार है, जो सेना को कानूनी छूट और 'शक की बिन्हा ' पर जान से मार देने का अधिकार दे देगा। कश्मीर, मणिपुर और नागालैंड में दसियों हजार बेनिशां कब्रों और बेनाम

चिताओं पर अगर गौर किया जाए तो सचमुच ही सेना ने स्वयं को बेहद संदेहास्पद बना दिया है।

तैनाती की तैयारियां तो चल ही रही हैं, मध्य भारत के जंगलों की घेरेबंदी जारी है और ग्रामीण बाहर निकलने से, खाद्य सामग्री और दवाइयां खरीदने बाजार जाने से डर रहे हैं। भयावह, अलोकतांत्रिक कानूनों के अंतर्गत माओवादी होने के आरोप में सैकड़ों लोगों को कैद में डाल दिया गया है। जेलें आदिवासी लोगों से भरी पड़ी हैं जिनमें बहुतों को यह भी नहीं पता कि उनका अपराध क्या है। हाल ही में सोनी सोरी, जो बस्तर की एक आदिवासी अध्यापिका हैं, को गिरफ्तार कर पुलिस हिरासत में यातनाएं दी गईं। इस बात का 'इकबाल' करवाने के लिए कि वे माओवादी संदेशवाहक हैं उनके गुप्तांग में पत्थर भरे गए थे। कोलकाता के एक अस्पताल में उनके शरीर से पत्थर निकाले गए। वहां उन्हें काफी जन आक्रोश के बाद चिकित्सा जांच के लिए भेजा गया था। उच्चतम न्यायालय की हालिया सुनवाई में एक्टिविस्टों ने न्यायाधीशों को प्लास्टिक की थैली में पत्थर भेंट किए। उनके प्रयासों से केवल यह नतीजा निकला कि सोनी सोरी अब भी जेल में हैं और जिस पुलिस अधीक्षक अंकित गर्ग ने सोनी सोरी से पूछताछ की थी उसे गणतंत्र दिवस पर वीरता के लिए राष्ट्रपति का पुलिस पदक प्रदान किया गया।

मास मीडिया की सीमाएं

हमें मध्य भारत की एन्वाइरनमेन्टल और सोशल रीइंजीनियरिंग के बारे में सिर्फ व्यापक विद्रोह और जंग की वजह से खबरें मिल पाती हैं। सरकार कोई सूचना जारी नहीं करती। सारे समझौता-पत्र (एमओयू) गोपनीय हैं। मीडिया के कुछ हिस्सों ने, मध्य भारत में जो कुछ हो रहा है, उस ओर सबका ध्यान आकर्षित करने की कोशिश की है। परंतु ज्यादातर मास-मीडिया इस कारण कमजोर पड़ जाता है कि उसकी कमाई का अधिकांश हिस्सा कॉर्पोरेट विज्ञापनों से आता है। पर अब तो रही सही कसर भी पूरी हो गई है। मीडिया और बड़े व्यवसायों के बीच की विभाजक रेखा खतरनाक ढंग से धुंधलाने लगी है। जैसा कि हम देख चुके हैं, आरआइएल 27 टीवी चैनलों का करीब-करीब मालिक है। मगर इसका उल्टा भी सच है। कुछ मीडिया घरानों के अब सीधे-सीधे व्यवसायिक और कॉर्पोरेट हित हैं। उदाहरण के लिए, इस क्षेत्र के प्रमुख दैनिक समाचारपत्रों में से एक – दैनिक भास्कर (और यह बस एक उदाहरण है) – के 13 राज्यों में चार भाषाओं के, जिनमें हिंदी और

अंग्रेजी दोनों शामिल हैं, एक करोड़ 75 लाख पाठक हैं। यह 69 कंपनियों का मालिक भी है जो खनन, ऊर्जा उत्पादन, रीयल एस्टेट और कपड़ा उद्योग से जुड़े हैं। छत्तीसगढ़ उच्च-न्यायालय में हाल ही में दायर की गई एक याचिका में डी बी पावर लिमिटेड (दैनिक भास्कर समूह की कंपनियों में से एक) पर कोयले की एक खुली खदान को लेकर हो रही जन-सुनवाई के परिणाम को प्रभावित करने हेतु कंपनी की मिल्कियत वाले अखबारों द्वारा ”जानबूझ कर, अवैध और प्रभावित करनेवाले तरीके” अपनाने का आरोप लगाया गया। यहां यह बात प्रासंगिक नहीं कि उन्होंने परिणाम को प्रभावित करने की कोशिश की या नहीं। मुद्दा यह है कि मीडिया घराने ऐसा करने की स्थिति में है। ऐसा करने की ताकत भी उनके पास है। देश के कानून उन्हें ऐसी स्थिति में होने की इजाजत देते हैं जो हितों के गंभीर टकराव वाली स्थितियां हैं।

देश के और भी हिस्से हैं जहां से कोई खबर नहीं आती। बहुत ही कम जनसंख्या वाले पर सैन्यीकृत उत्तर-पूर्वी राज्य अरुणाचल प्रदेश में 168 बड़े बांध बनाये जा रहे हैं जिनमें अधिकतर निजी क्षेत्र के हैं। मणिपुर और कश्मीर में ऊंचे बांध बनाये जा रहे हैं जो समूचे जिलों को डुबो देंगे, ये दोनों ही अत्यंत सैन्यीकृत राज्य हैं जहां सिर्फ बिजली की कटौती का विरोध करने के लिए भी लोगों को मारा जा सकता है। (ऐसा कुछ ही हफ्तों पहले कश्मीर में हुआ।) तो वे बांध का निर्माण कैसे रोक सकते हैं?

विकृत सपने

गुजरात का कल्पसर बांध सर्वाधिक भ्रांतिकारी है। इसकी योजना खंभात की खाड़ी में एक 34 किमी लंबे बांध के रूप में बनाई जा रही है जिसके ऊपर एक दस लेन हाइवे और एक रेलवे लाइन भी होगी। समुद्र के पानी को बाहर कर गुजरात की नदियों के मीठे पानी का जलाशय बनाने का इरादा है। (यह बात और है कि इन नदियों की अंतिम बूंद तक पर बांध बना दिया गया है और रासायनिक निस्सारण से ये जहरीली हो चुकी हैं।) कल्पसर बांध को, जो समुद्र सतह को बढ़ाएगा और समुद्र तट की सैकड़ों किलोमीटर की पारिस्थितिकी को बदल देगा, दस साल पहले ही एक हानिकारक विचार मान कर खारिज कर दिया गया था। इसकी अचानक वापसी इसलिए हुई है क्योंकि धोलेरा विशेष निवेश क्षेत्र (स्पेशल इंवेस्टमेंट रीजन या एसआइआर) को पानी की आपूर्ति की जा सके जो भारत ही नहीं बल्कि दुनिया भर के सबसे कम पानी वाले भूभागों में से एक में स्थित है।

एसईजेड का ही दूसरा नाम है एसआइआर, मतलब 'औद्योगिक पार्कों, उपनगरों (टाउनशिप) और मेगाशहरों' का स्वशासित कॉर्पोरेट नरक (डिस्टोपिया)। धोलेरा एसआइआर को दस लेन राजमार्गों के जाल से गुजरात के अन्य शहरों से जोड़ा जाएगा। इन सब के लिए पैसा कहां से आएगा?

जनवरी, 2011 में महात्मा (गांधी) मंदिर में गुजरात के मुख्य मंत्री नरेंद्र मोदी ने 100 देशों से आये 10,000 अंतर्राष्ट्रीय कारोबारियों के सम्मेलन की अध्यक्षता की। मीडिया की रिपोर्टों के अनुसार उन्होंने गुजरात में 45,000 करोड़ डॉलर निवेश करने का वादा किया है। फरवरी-मार्च, 2002 में हुए 2,000 मुसलमानों के कत्लेआम की दसवीं बरसी की शुरुआत के मौके पर ही वह सम्मेलन होने वाला था। मोदी पर न केवल हत्याओं की अनदेखी करने का बल्कि सक्रिय रूप से उन्हें बढ़ावा देने का भी आरोप है। जिन लोगों ने अपने प्रियजनों का बलात्कार होते, उन्हें टुकड़े-टुकड़े होते और जिंदा जलाये जाते देखा है, जिन दसियों हजार लोगों को अपना घर छोड़ने के लिए मजबूर किया गया था, वे अब भी इंसाफ के हल्के से इशारे के मुंतजिर हैं। मगर मोदी ने अपना केसरिया दुपट्टा और सिंदूरी माथा चमकदार बिजनेस सूट से बदल लिया है और उन्हें उम्मीद है कि 45,000 करोड़ डॉलर का निवेश ब्लड मनी (मुआवजे) के तौर पर काम करेगा और हिसाब बराबर हो जाएगा। शायद ऐसा हो भी जाए। बड़ा व्यवसाय उत्साह से उनका समर्थन कर रहा है। अपरिमित न्याय का बीजगणित रहस्यमय तरीकों से काम करता है।

धोलेरा एसआइआर छोटी मात्रियोश्का गुड़ियों में एक है, जिस नरक की योजना बनाई जा रही है उसकी एक अंदर वाली गुड़िया। ये दिल्ली मुंबई औद्योगिक गलियारे (डीएमआइसी) से जोड़ा जायेगा, डीएमआइसी एक 1500 किमी लंबा और 300 किमी चौड़ा औद्योगिक गलियारा होगा जिसमें नौ बहुत बड़े औद्योगिक क्षेत्र, एक तीव्र-गति मालवाहक रेल लाइन, तीन बंदरगाह और छह हवाई अड्डे, एक छह लेन का बिना चौराहों (इंटरसेक्शन) वाला द्रुतगति मार्ग और एक 4000 मेगावाट का ऊर्जा संयंत्र होगा। डीएमआइसी भारत और जापान की सरकारों और उनके अपने-अपने कॉर्पोरेट सहयोगियों का साझा उद्यम है और उसे मेकिंजी ग्लोबल इंस्टिट्यूट ने प्रस्तावित किया है।

डीएमआइसी की वेबसाइट कहती है कि इस प्रोजेक्ट से लगभग 18 करोड़ लोग 'प्रभावित' होंगे। वास्तव में वे किस प्रकार प्रभावित होंगे यह नहीं बताया गया। कई नए शहरों का निर्माण किए जाने का अनुमान है और अंदाजा है कि 2019 तक इस क्षेत्र की जनसंख्या वर्तमान 23.1 करोड़ से बढ़कर 31.4 करोड़ हो जाएगी। क्या आपको याद है कि आखिरी बार कब किसी राज्य, निरंकुश शासक या तानाशाह ने दसियों लाख लोगों की जनसंख्या को स्थानांतरित किया था? क्या यह प्रक्रिया शांतिपूर्ण हो सकती है?

भारतीय सेना को शायद भर्ती अभियान चलाना पड़ेगा ताकि जब उसे भारत भर में तैनाती का आदेश मिले तो शर्मिंदगी का सामना न करना पड़े। मध्य भारत में अपनी भूमिका की तैयारी में भारतीय सेना ने सैन्य मनोवैज्ञानिक परिचालन (मिलिटरी साइकोलॉजिकल ऑपरेशंस) पर अपना अद्यतन सिद्धांत सार्वजनिक रूप से जारी किया, जो 'वांछित प्रवृत्तियों और आचरण पैदा करने वाली खास विषय वस्तुओं को बढ़ावा देने के लिए चुनी हुई लक्षित जनता तक संदेश संप्रेषित करने की नियोजित प्रक्रिया' का खाका खींचती है 'जो देश के राजनीतिक और सैनिक उद्देश्यों की प्राप्ति पर असर डालती है'। इसके अनुसार 'अभिज्ञता प्रबंधन' की यह प्रक्रिया, 'सेना को उपलब्ध संचार माध्यमों' के द्वारा संचालित की जायेगी।

अपने अनुभव से सेना को पता है कि जिस पैमाने की सामाजिक इंजीनियरिंग भारत के योजनाकर्ताओं ने सोची है उसे केवल बलपूर्वक प्रबंधित और कार्यान्वित नहीं किया जा सकता। गरीबों के खिलाफ जंग एक बात है। मगर हम जैसे बाकी बचे लोगों के लिए-मध्य वर्ग, सफेदपोश कर्मी, बुद्धिजीवी, 'अभिमत बनाने वाले' – तो यह 'अभिज्ञता प्रबंधन' ही चाहिए होगा। और इसके लिए हमें अपना ध्यान 'कॉर्पोरेट परोपकार' की उत्कृष्ट कला की ओर ले जाना होगा।

पूंजीवाद एक प्रेत कथा-भाग दो

पूंजीवाद एक प्रेत कथा-भाग दो

Author: अरुंधति रॉय Edition : May 2012 Translation : भारत भूषण

[आज हम प्रस्तुत कर रहें हैं अरुंधति राय द्वारा लिखित और भारत भूषण द्वारा अनूदित तीन भागों की श्रंखला "पूंजीवाद एक प्रेत कथा" *का दूसरा भाग। पिछले अंक में आपने जाना कि किस प्रकार कॉरर्पोरेट्स सरकार के साथ मिलकर ऐसा खेल खेल रहे हैं कि गरीब और गरीब होते जा रहे हैं तथा किसान आत्महत्या करने के लिये मजबूर हैं।यह लेख आउटलुक से* साभार *लिया गया है।*]

खुशी का उत्खनन

हाल के दिनों में प्रमुख खनन समूहों ने कला को अंगीकार कर लिया है – फिल्में, कला और साहित्यिक समारोहों की बढ़ती भीड़ ने नब्बे के दशक की सौंदर्य प्रतियोगिताओं को लेकर पाए जाने वाले जुनून की जगह ले ली है। वेदांता, जो फिलहाल बॉक्साइट के लिए प्राचीन डोंगरिया कोंध जनजाति की जन्मभूमि को बेतहाशा खोद रही है, युवा सिने विद्यार्थियों के बीच 'क्रिएटिंग हैपिनेस' नामक फिल्म प्रतियोगिता प्रायोजित कर रही है। इन विद्यार्थियों को वेदान्ता ने संवहनीय विकास अर्थात सस्टेनेबल डेवलपमेंट पर फिल्में बनाने हेतु नियुक्त किया है।**वेदान्ता की टैगलाइन है 'माइनिंग हैपिनेस' (खुशी का उत्खनन)।** जिंदल समूह समकालीन कला पर केंद्रित एक पत्रिका निकालता है और भारत के कुछ बड़े कलाकारों की सहायता करता है (जो स्वाभाविक है कि इनका माध्यम स्टेनलेस स्टील है।) तहलका न्यूज़वीक थिंक फेस्ट (चिंतन महोत्सव)का एसार समूह प्रमुख प्रायोजक था जिसमें वादा किया गया था कि दुनिया के अग्रणी चिंतकों के बीच, जिनमें बड़े लेखक, एक्टिविस्ट और वास्तुविद फ्रैंक गैरी तक शामिल थे, तेजतर्रार बहसें हाई आक्टेन डिबेट्स होंगीं। (ये सब गोवा में हो रहा था, जहां एक्टिविस्ट और पत्रकार भीमकाय अवैध खनन घोटालों को उजागर कर रहे थे और बस्तर में युद्ध में एस्सार की भूमिका सामने आने लगी थी।) टाटा स्टील और रिओ टिंटो (जिसका अपना ही घिनौना इतिहास है) जयपुर लिटरेचर फेस्टिवल (वैज्ञानिक नाम- दर्शन सिंह कन्सट्रक्शन्स जयपुर लिटरेचर फेस्टिवल) के मुख्य प्रायोजकों में थे जिसको कला-मर्मज्ञों ने 'धरती का महानतम साहित्यिक उत्सव' कहकर विज्ञापित किया है। काउन्सेलेज ने, जो टाटा की स्ट्रेटेजिक ब्रांड मैनेजर है, फेस्टिवल का प्रेस तंबू प्रायोजित किया। दुनिया के बेहतरीन और प्रतिभाशाली लेखकों में से कई जयपुर में प्रेम, साहित्य, राजनीति और सूफी शायरी पर बातें करने के लिए जमा हुए थे। उनमें से कुछ ने सलमान रुश्दी की प्रतिबंधित पुस्तक सैटनिक वर्सेज का पाठ करके उनकी अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता का बचाव करने की कोशिश की। हर टीवी फ्रेम और अखबारी तस्वीर में, लेखकों के पीछे टाटा का लोगो (और

उनकी टैगलाइन- वैल्यूज स्ट्रांगर दैन स्टील -इस्पात से मजबूत मूल्य) एक सौम्य और परोपकारी मेजबान के रूप में छाया था। अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता की दुश्मन कथित रूप से हिंसक मुसलमानों की वह भीड़ थी जो, जैसा कि आयोजकों ने हमें बताया, वहां इकठ्ठा हुए स्कूली बच्चों तक को नुकसान पहुंचा सकती थी। (हम इस बात के गवाह हैं कि मुसलमानों के बारे में भारत सरकार और पुलिस कितनी असहाय हो सकती है।) हां, कट्टरपंथी देवबंदी इस्लामी मदरसे ने रुश्दी को फेस्टिवल में बुलाये जाने का विरोध किया। हां, कुछ इस्लामवादी निश्चय ही आयोजन स्थल पर विरोध प्रदर्शित करने के लिए एकत्रित हुए थे और हां, भयावह बात यह है कि आयोजन स्थल की रक्षा करने के लिए राज्य सरकार ने कुछ नहीं किया। वह इसलिए कि पूरे घटनाक्रम का लोकतंत्र, वोटबैंक और उत्तर प्रदेश चुनावों से उतना ही लेना-देना था जितना इस्लामवादी कट्टरपंथ से। मगर इस्लामवादी कट्टरपंथ के विरुद्ध अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता की लड़ाई ने दुनिया भर के अखबारों में जगह पाई। यह अहम् बात है कि ऐसा हुआ। मगर फेस्टिवल के प्रायोजकों की जंगलों में चल रहे युद्ध, लाशों के ढेर लगने और जेलों के भरते जाने में भूमिका के बारे में शायद ही कोई रिपोर्ट हो। या फिर गैरकानूनी गतिविधि प्रतिबंधक विधेयक या छतीसगढ़ विशेष जन सुरक्षा विधेयक के बारे में कोई रिपोर्ट जो सरकार-विरोधी बात सोचने तक को संज्ञेय अपराध बनाते हैं। या फिर लोहंडीगुडा के टाटा इस्पात संयंत्र को लेकर अनिवार्य जन सुनवाई के बारे में, जो स्थानीय लोगों की शिकायत के अनुसार वास्तव में सैकड़ों मील दूर जगदलपुर में जिलाधीश कार्यालय के प्रांगण में किराये पर लाए गए पचास लोगों की उपस्थिति में और हथियारबंद सुरक्षा के बीच हुई। उस वक्त अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता कहां थी? किसी ने कलिंगनगर का जिक्र नहीं किया। किसी ने जिक्र नहीं किया कि भारत सरकार को जो विषय अप्रिय हैं उन पर – जैसे श्रीलंका के युद्ध में तमिलों के नरसंहार में उसकी गुप्त भूमिका या कश्मीर में हाल में खोजी गईं बेनिशान कब्रें- काम करने वाले पत्रकारों, अकादमिकों और फिल्म बनाने वालों के वीजा अस्वीकृत किए जा रहे हैं या उन्हें एअरपोर्ट से सीधे निर्वासित कर दिया जा रहा है।

मगर हम पापियों में कौन पहला पत्थर उछालने वाला था? मैं तो नहीं, जो कॉर्पोरेट प्रकाशन गृहों से मिलने वाली रॉयल्टियों पर गुजर करती हूं। हम सब टाटा स्काई देखते हैं, टाटा फोटॉन से इंटरनेट पर विचरण करते हैं, टाटा टैक्सियों में घूमते हैं, टाटा होटलों में रहते हैं, टाटा की चीनी मिट्टी के कप में अपनी टाटा चाय की चुस्कियां लेते हैं और

उसे टाटा स्टील से बने चम्मच से घोलते हैं। हम टाटा की किताबें टाटा की किताबों की दुकान से खरीदते हैं। हम टाटा का नमक खाते हैं। हम घेर लिए गए हैं।

अगर नैतिक पवित्रता के हथौड़े को पत्थर फेंकने का मापदंड होना है, तो केवल वे ही लोग योग्य हैं जिन्हें पहले ही खामोश कर दिया गया है। जो लोग इस व्यवस्था से बाहर रहते हैं; जंगल में रहने वाले अपराधी घोषित कर दिए लोग, या वे जिनका विरोध प्रेस कभी कवर नहीं करता, या फिर वे शालीन विस्थापित जन जो इस ट्राइब्यूनल से उस ट्राईब्यूनल तक साक्ष्यों को सुनते हैं और साक्ष्य बनते, घूमते हैं।

मगर लिट्फेस्ट ने हमें वाह! वाह! का मौका तो दिया ही। ओपरा आईं। उन्होंने कहा भारत मुझे पसंद आया और मैं बार-बार यहां आउंगीं। इसने हमें गौरवान्वित किया।

ये उत्कृष्ट कला का प्रहसनात्मक अंत है।

वैसे तो टाटा लगभग सौ सालों से कॉर्पोरेट परोपकार में शामिल है, छात्रवृत्तियां प्रदान कर और कुछ बेहतरीन शिक्षा संस्थान व अस्पताल चलाकर। पर भारतीय निगमों को इस स्टार चेंबर, या कैमेरा स्टेलाटा में हाल ही में आमंत्रित किया गया है। कैमेरा स्टेलाटा वैश्विक कॉर्पोरेट सरकार की वह चमचमाती दुनिया है जो उसके विरोधियों के लिए तो मारक है मगर वैसे इतनी कलात्मक है कि आपको उसके अस्तित्व का पता ही नहीं चलता।

परोपकार की धारा

इस निबंध में आगे जो आने वाला है, वह कुछ लोगों को किंचित कटु आलोचना प्रतीत होगी। दूसरी ओर, अपने विरोधियों का सम्मान करने की परंपरा में, इसे उन लोगों की दृष्टि, लचीलेपन, परिष्करण और दृढ़ निश्चय की अभिस्वीकृति के तौर पर भी पढ़ा जा सकता है, जिन्होंने अपनी जिंदगियां दुनिया को पूंजीवाद के लिए सुरक्षित रखने हेतु समर्पित कर दी हैं।

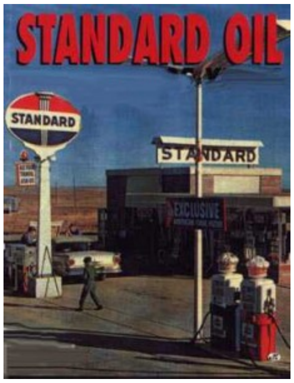

उनका सम्मोहक इतिहास, जो समकालीन स्मृति से धुंधला हो गया है, अमेरिका में बीसवीं सदी के शुरुआती दौर में आरंभ हुआ , जब दानप्राप्त फाउंडेशनों के रूप में कानूनन खड़े किए जाने पर कॉर्पोरेट परोपकार ने पूंजीवाद के (और साम्राज्यवाद) के लिए रास्ते खोलने वाले और मुस्तैद निगहबानी करने वाले की भूमिका से मिशनरी गतिविधियों की जगह लेनी शुरू की। अमेरिका में स्थापित किए गए शुरुआती फाउंडेशनों में थे कार्नेगी स्टील कंपनी के मुनाफों से मिले दान से 1911 में कार्नेगी कारपोरेशन; और स्टैण्डर्ड आयल कंपनी के संस्थापक जे. डी. रॉकफेलर के दान से 1914 में बना रॉकफेलर फाउंडेशन। उस समय के टाटा और अंबानी।

रॉकफेलर फाउंडेशन द्वारा वित्तपोषित, प्रारंभिक निधि प्राप्त या सहायता प्राप्त कुछ संस्थान हैं संयुक्त राष्ट्र संघ, सीआइए, काउंसिल फॉर फॉरेन रिलेशंस, न्यूयॉर्क का बेहद शानदार म्यूजियम ऑफ मॉडर्न आर्ट और बेशक न्यूयॉर्क का रॉकफेलर सेंटर (जहां डिएगो रिविएरा को म्यूरल दीवार से तोड़ कर हटा दिया गया था क्योंकि उसमें शरारतपूर्ण ढंग से मूल्यहीन पूंजीपतियों और वीर लेनिन को दर्शाया गया था। अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता उस दिन छुट्टी मना रही थी।)

जे.डी. रॉकफेलर अमेरिका के पहले अरबपति और दुनिया के सबसे अमीर आदमी थे। वे दासता-विरोधी, अब्राहम लिंकन के समर्थक थे और शराब को हाथ नहीं लगाते थे। उनका विश्वास था कि उनका धन भगवान का दिया हुआ है जो निश्चय ही उनके प्रति दयालु रहा होगा।

प्रस्तुत हैं 'स्टैण्डर्ड आयल कंपनी' शीर्षक पाब्लो नेरुदा की एक शुरुआती कविता के अंश:

न्यूयॉर्क के उनके थुलथुल बादशाह लोग
सौम्य मुस्कराते हत्यारे हैं
जो खरीदते हैं रेशम, नायलॉन, सिगार,
हैं छोटे-मोटे आततायी और तानाशाह ।
वे खरीदते हैं देश, लोग, समंदर, पुलिस, विधान/ सभाएं,
दूरदराज के इलाके जहां गरीब इकट्ठा करते हैं/ अनाज

जैसे कंजूस जोड़ते हैं सोना,
स्टैंडर्ड आयल उन्हें जगाती है,
वर्दियां पहनाती है,
बताती है कि कौन-सा भाई है शत्रु उनका।
उसकी लड़ाई पराग्वे वासी लड़ता है
और बोलीवियाईजंगलों में इसकी मशीनगनों के साथ भटकता है।
पेट्रोलियम की एक बूंद के लिए मार डाला गया/ एक राष्ट्रपति,
दस लाख एकड़ रेहन रखता है,
उजाले से मृत पथरायी हुई एक सुबह तेजी से /दिया जाता है मृत्युदंड ,
बागियों के लिए एक नया कैदखाना
पातागोनिया में, एक विश्वासघात, पेट्रोलियम/चांद के तले
गोलियों की छिट पुट आवाजें, राजधानी में
मंत्रियों को उस्तादी से बदलना,
राजधानी में, एक फुसफुसाहट
तेल की लहरों जैसी
और फिर प्रहार। आप देखेंगे
कि कैसे स्टैंडर्ड आयल के शब्द चमकते हैं/ बादलों के ऊपर,
समंदरों के ऊपर, आपके घर में
अपने प्रभाव क्षेत्र को जगमगाते हुए।
करों से मुक्ति का मार्ग

अमेरिका में जब पहले-पहल कॉर्पोरेट धनप्राप्त फाउंडेशनों का आविर्भाव हुआ तो वहां उनके उद्गम, वैधता और उत्तरदायित्व के अभाव को लेकर तीखी बहस हुई। लोगों ने सलाह दी कि अगर कॉर्पोरेशनों के पास इतना अधिशेष है, तो उन्हें मजदूरों की तनख्वाहें बढ़ानी चाहिए। (उन दिनों अमेरिका में भी लोग ऐसी बेहूदा सलाहें दिया करते थे।) इन फाउंडेशनों का विचार, जो आज मामूली बात लगता है, दरअसल कारोबारी कल्पना की एक ऊंची छलांग था। करों से मुक्त वैध संस्थाएं जिनके पास अत्यधिक संसाधन और लगभग असीमित योजनाएं हों – जवाबदेही से पूर्णतः मुक्त, पूर्णतः अपारदर्शी – आर्थिक संपत्ति को राजनीतिक, सामाजिक और सांस्कृतिक पूंजी में बदलने का इससे बढ़िया तरीका और क्या

हो सकता है? सूदखोरों के लिए अपने मुनाफों के एक रत्तीभर प्रतिशत को दुनिया को चलाने में इस्तेमाल करने का इससे बढ़िया तरीका और क्या हो सकता है? वरना बिल गेट्स जो, खुद कहते हैं कि वे कंप्यूटर के बारे में भी एक-दो चीजें ही जानते हैं, सिर्फ अमेरिकी सरकार के लिए ही नहीं बल्कि दुनिया भर की सरकारों के लिए शिक्षा, स्वास्थ्य और कृषि नीतियां तैयार करते पाए जाते हैं?

विगत वर्षों में जब लोगों ने फाउंडेशनों द्वारा की गई कुछ सचमुच अच्छी चीजें (सार्वजनिक पुस्तकालय चलाना, बीमारियों का उन्मूलन) देखीं- वहीं कॉर्पोरेशनों और उनसे पैसा प्राप्त फाउंडेशनों के बीच का सीधा संबंध धुंधलाने लगा। अंततः वह पूरी तरह धुंधला पड़ा गया। आज तो अपने आप को वामपंथी समझने वाले तक उनकी दानशीलता स्वीकारने से शर्माते नहीं हैं।

1920 के दशक तक अमेरिकी पूंजीवाद ने कच्चे माल और विदेशी बाजार के लिए बाहर नजर डालना शुरू कर दिया था। फाउंडेशनों ने वैश्विक कार्पोरेट प्रशासन के विचार का प्रतिपादन शुरू किया। 1924 में रॉकफेलर और कार्नेगी फाउंडेशनों ने मिलकर काउंसिल फॉर फॉरेन रिलेशंस (सीएफआर – विदेश संबंध परिषद) की स्थापना की जो आज दुनिया का सबसे शक्तिशाली विदेश नीति दबाव-समूह है। सीएफआर को बाद में फोर्ड फाउंडेशन से भी अनुदान मिला। सन 1947 के आते-आते सीएफआर नवगठित सीआईए को पूरा समर्थन देने लगा और वे साथ मिलकर काम करने लगे। अब तक अमेरिका के 22 गृह-सचिव (सेक्रेटरी ऑफ स्टेट) सीएफआर के सदस्य रह चुके हैं। सन 1943 की परिचालन समिति में, जिसने संयुक्त राष्ट्र संघ की योजना बनाई थी, पांच सीएफआर सदस्य थे, और आज न्यूयॉर्क में जहां सं.रा.संघ का मुख्यालय खड़ा है वह जमीन जे.डी. रॉकफेलर द्वारा मिले 850 करोड़ डॉलर के अनुदान से खरीदी गई थी।

1946 से लेकर आज तक विश्व बैंक के सभी ग्यारह अध्यक्ष – वे लोग जो स्वयं को गरीबों का मिशनरी बतलाते हैं – सीएफआर के सदस्य रहे हैं। (जॉर्ज वुड्स इसके अपवाद हैं और वे रॉकफेलर फाउंडेशन के ट्रस्टी और चेज-मैनहटन बैंक के उपाध्यक्ष थे।)

सद्भावना का अंतरराष्ट्रीय चेहरा

ब्रेटन वुड्स में विश्व बैंक और आइएमएफ (अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष) ने निर्णय लिया कि अमेरिकी डॉलर को विश्व की संचय मुद्रा (रिजर्व करंसी) होना चाहिए और यह कि वैश्विक पूंजी की पैठ को और बढ़ाने के लिए जरूरी होगा कि एक मुक्त बाजार व्यवस्था में प्रयुक्त व्यवसायिक कार्यप्रणालियों का सार्वभौमीकरण और मानकीकरण किया जाए। इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए वे गुड गवर्नेंस (जब तक डोरी उनके हाथों में रहे) और रूल ऑफ लॉ अर्थात कानून-व्यवस्था (बशर्ते कानून बनाने में उनकी चले) की संकल्पना और सैकड़ों भ्रष्टाचार-विरोधी कार्यक्रमों (उनकी बनाई हुई व्यवस्था को सरल और कारगर बनाने हेतु) को बढ़ावा देने के लिए इतना पैसा खर्च करते हैं। विश्व की दो सर्वाधिक अपारदर्शी और जवाबदेह-रहित संस्थाएं गरीब देशों की सरकारों से पारदर्शिता और उत्तरदायित्व की मांग करती फिरती हैं।

ये देखते हुए कि एक के बाद दूसरे देश के बाजारों को बलपूर्वक और जबरदस्ती वैश्विक वित्त के लिए खुलवाकर विश्व बैंक ने तीसरी दुनिया की आर्थिक नीतियों को लगभग निर्देशित किया है, कहा जा सकता है कि कॉर्पोरेट परोपकार आज तक का सबसे दिव्य धंधा साबित हुआ है।

कॉर्पोरेट-धनप्राप्त फाउंडेशन अभिजात क्लबों और थिंक-टैंकों (चिंतन मंडलियों) की व्यवस्था के द्वारा अपनी शक्ति का इस्तेमाल करते हैं और अपने खिलाड़ियों को शतरंज की बिसात पर इन विशिष्ट क्लबों और थिंक-टैंकों के जरिये बैठाते हैं। इनके सदस्य साझा होते हैं और घूमते दरवाजों से अंदर बाहर होते रहते हैं। खासकर वामपंथी समूहों के बीच जो विभिन्न षड्यंत्र-गाथाएं प्रचलन में हैं, उनके उलट इस व्यवस्था के बारे में कुछ भी गोपनीय, शैतानी और गुप्त-सदस्यता जैसा नहीं है। जिस तरह कॉर्पोरेशन शैल (नाममात्र) के लिए पंजीकृत कंपनियों और अपतट (ऑफशोर) खातों का इस्तेमाल पैसे के हस्तांतरण और प्रबंधन के लिए करते हैं, यह तरीका उससे बहुत अलग नहीं है। फर्क इतना ही है कि यहां प्रचतिल मुद्रा ताकत है, पैसा नहीं।

सीएफआर का अंतर्राष्ट्रीय समतुल्य है तीन आयामी आयोग, जिसकी स्थापना 1973 में डेविड रॉकफेलर, अमेरिका के पूर्व राष्ट्रीय सुरक्षा सलाहकार ज्बीग्न्येफ ब्रजिन्स्की (अफगान मुजाहिद्दीन अर्थात तालिबान के पूर्वज का संस्थापक-सदस्य), चेज-मैनहटन बैंक और कुछ अन्य निजी प्रतिष्ठानों ने मिलकर की थी। इसका उद्देश्य था उत्तरी अमेरिका, योरोप और जापान के अभिजातों के बीच मैत्री और सहकार्य का एक चिरस्थायी बंधन तैयार करना। ये अब एक पंचकोणीय आयोग बन गया है क्योंकि इसमें अब भारत और चीन के सदस्य भी शामिल हैं। (सीआइआइ के तरुण दास; इनफोसिस के पूर्व-सीईओ एन.आर.नारायणमूर्ति; गोदरेज के प्रबंध निदेशक जमशेद एन. गोदरेज, टाटा संस के निदेशक जमशेद जे. ईरानी; और अवंता समूह के सीईओ गौतम थापर)।

द ऐस्पन इंस्टीट्यूट स्थानीय अभिजातों, व्यवसायिकों, नौकरशाहों, राजनीतिकों का एक अंतर्राष्ट्रीय क्लब है जिसकी शाखाएं बहुत से देशों में हैं। ऐस्पन इंस्टीट्यूट की भारतीय शाखा के अध्यक्ष तरुण दास हैं। गौतम थापर सभापति हैं। मैकंजी ग्लोबल इंस्टीट्यूट (दिल्ली-मुंबई औद्योगिक गलियारे के प्रस्तावक) के कई वरिष्ठ पदाधिकारी सीएफआर के, ट्राईलैटरल कमीशन के, और द ऐस्पन इंस्टीट्यूट के सदस्य हैं।

द फोर्ड फाउंडेशन (जो किंचित अनुदार रॉकफेलर फाउंडेशन का उदारवादी रूप है, हालांकि दोनों लगातार मिलकर काम करते हैं) की स्थापना 1936 में हुई। हालांकि उसे अक्सर कम महत्त्व दिया जाता है, पर फोर्ड फाउंडेशन की एकदम साफ और पूर्णतः स्पष्ट विचारधारा है और यह अपनी गतिविधियां अमेरिकी गृहमंत्रालय के साथ बहुत नजदीकी से तालमेल बैठाकर चलाता है। लोकतंत्र और 'गुड गवर्नंस' (सुशासन)को गहराने का उनका प्रोजेक्ट मुक्त बाजार में कारोबारी कार्यप्रणालियों के मानकीकरण और कार्यक्षमता को बढ़ावा देने की ब्रेटन वुड्स स्कीम का ही हिस्सा है। दूसरे विश्व युद्ध के बाद, जब अमेरिकी सरकार के शत्रु नंबर एक के तौर पर फासिस्टों की जगह कम्युनिस्टों ने ले ली थी, शीत युद्ध से निपटने के लिए नई तरह की संस्थाओं की जरूरत थी। फोर्ड ने आरएएनडी (रिसर्च एंड डेवलपमेंट कॉर्पोरेशन या रैंड) को पैसा दिया जो एक सैन्य थिंक-टैंक है और उसने शुरुआत अमेरिकी रक्षा विभाग के लिए अस्त्र अनुसंधान के साथ की। 1952 में 'मुक्त राष्ट्रों में घुसपैठ करने और उनमें अव्यवस्था फैलाने के अनवरत साम्यवादी प्रयत्नों' को रोकने के लिए उसने गणतंत्र कोष की स्थापना की, जो फिर लोकतांत्रिक संस्थानों के अध्ययन केंद्र

में परिवर्तित हो गया । उसका काम था मैकार्थी की ज्यादतियों के बिना चतुराई से शीत युद्ध लड़ना। भारत में करोड़ों डालर निवेश करके जो काम फोर्ड फाउंडेशन कर रहा है- कलाकारों, फिल्मकारों और एक्टिविस्टों को दीए जाने वाली वित्तीय मददें, विश्वविद्यालयीन कोर्सों और छात्रवृत्तियों हेतु उदार अनुदान – उसे हमें इस नजरिए से देखना होगा।

फोर्ड फाउंडेशन के घोषित 'मानवजाति के भविष्य के लक्ष्यों ' मेंस्थानीय और अंतर्राष्ट्रीय जमीनी राजनीतिक आंदोलनों में हस्तक्षेप करना है। अमेरिका में इसने क्रेडिट यूनियन मूवमेंट को सहायता देने के लिए अनुदान और ऋण के तौर पर करोड़ों लाख डॉलर मुहैया करवाए। 1919 में शुरू हुए क्रेडिट यूनियन मूवमेंट के प्रणेता एक डिपार्टमेंट स्टोर के मालिक एडवर्ड फाइलीन थे। मजदूरों को वहन किए जाने योग्य ऋण उपलब्ध कराकर उपभोक्ता वस्तुओं के लिए एक विशाल उपभोक्ता समाज (मास कंजम्प्शन सोसाइटी) बनाने में फाइलीन का विश्वास था- जो उस समय एक क्रांतिकारी विचार था। दरअसल यह विचार केवल आधा ही क्रांतिकारी था, क्योंकि फाइलीन का जो विश्वास था उसका दूसरा आधा हिस्सा था राष्ट्रीय आय का अधिक समतापूर्ण वितरण। फाइलीन के सुझाव का पहला आधा हिस्सा पूंजीपतियों ने हथिया लिया और मेहनतकश लोगों को लाखों डॉलर के 'एफोर्डेबल' ऋण वितरित कर अमेरिका के मेहनतकश वर्ग को हमेशा के लिए कर्जे में रहने वाले लोगों में बदल दिया जो अपनी जीवन शैली को अद्यतन करते रहने के लिए हमेशा भागदौड़ में लगे रहते हैं।

बहुत सालों बाद यह विचार बांग्लादेश के दरिद्र देहाती क्षेत्र में 'ट्रिकल डाउन' (रिसकर) होकर पहुंचा जब मुहम्मद युनुस और ग्रामीण बैंक ने भूखे मरते किसानों को माइक्रोक्रेडिट (लघु वित्त) उपलब्ध करवाया जिसके विनाशकारी परिणाम हुए। भारत में लघुवित्त कंपनियां सैकड़ों आत्महत्याओं के लिए जिम्मेदार हैं- सिर्फ 2010 में ही आंध्र प्रदेश में 240 लोगों ने खुदकुशी की। हाल ही में एक राष्ट्रीय दैनिक ने एक ऐसी अठारह वर्षीय लड़की का खुदकुशी करने से पहले लिखा पत्र प्रकाशित किया था जिसे उसके पास बचे आखिरी 150 रुपए, जो उसकी स्कूल की फीस थी, लघुवित्त कंपनी के गुंडई करने वाले कर्मचारियों को

देने पर मजबूर होना पड़ा। उस पत्र में लिखा था, 'मेहनत करो और पैसा कमाओ। कर्जा मत लो। '

गरीबी में बहुत पैसा है, और चंद नोबेल पुरस्कार भी।

पूंजीवाद एक प्रेत कथा-भाग तीन

पूंजीवाद एक प्रेत कथा-भाग तीन

Author: अरुंधति रॉय *Edition :* May 2012 *Translation :* भारत भूषण

[*आज हम प्रस्तुत कर रहें हैं अरुंधति राय द्वारा लिखित और भारत भूषण द्वारा अनूदित तीन भागों की श्रृंखला* "पूंजीवाद एक प्रेत कथा" *का तीसरा व अंतिम भाग । भाग एक में आपने जाना कि किस प्रकार कॉरपोरेट्स सरकार के साथ मिलकर ऐसा खेल खेल रहे हैं कि गरीब और गरीब होते जा रहे हैं तथा किसान आत्महत्या करने के लिये मजबूर हैं। दूसरे भाग में आपने पढा कि किस प्रकार कॉर्पोरेट्स कला को प्रोत्साहन देने के बहाने अपने स्वार्थ सिद्धि कर रहे हैं। यह लेख आउटलुक से* साभार *लिया गया है।*]

स्वयंसेवा का मार्ग

1950 के दशक तक कई एनजीओ और अंतर्राष्ट्रीय शैक्षिक संस्थानों को पैसा देने के काम के साथ-साथ रॉकफेलर और फोर्ड फाउंडेशन ने अमेरिकी सरकार की लगभग शाखाओं के तौर पर काम करना शुरू कर दिया था। अमेरिकी सरकार उस वक्त लातिन अमेरिका, ईरान और इंडोनेशिया में लोकतांत्रिक ढंग से चुनी गई सरकारें गिराने में लगी हुई थी। (यही वह समय है जब उन्होंने भारत में प्रवेश किया जो गुटनिरपेक्ष था पर साफ तौर पर उसका झुकाव सोवियत संघ की तरफ था।) फोर्ड फाउंडेशन ने इंडोनेशियाई विश्वविद्यालय में एक अमेरिकी-शैली का अर्थशास्त्र का पाठ्यक्रम स्थापित किया। संभ्रांत इंडोनेशियाई छात्रों ने, जिन्हें विप्लव-प्रतिरोध (काउंटर इंसर्जंसी) में अमेरिकी सेना के अधिकारियों ने प्रशिक्षित किया था, 1965 में सीआईए-समर्थित तख्ता-पलट में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई थी जिसमें जनरल सुहार्तो सत्ता में आये। लाखों कम्युनिस्ट विद्रोहियों को मरवाकर जनरल सुहार्तो ने अपने सलाहकार-मददगारों का कर्जा चुका दिया।

बीस साल बाद चिली के युवा छात्रों को, जिन्हें शिकागो ब्वायज के नाम से जाना गया, शिकागो विश्वविद्यालय (जे.डी. रॉकफेलर द्वारा अनुदान प्राप्त) में मिल्टन फ्रीडमन द्वारा

नवउदारवादी अर्थशास्त्र में प्रशिक्षण हेतु अमेरिका ले जाया गया। ये 1973 में हुए सीआइए-समर्थित तख्ता-पलट की पूर्वतैयारी थी जिसमें साल्वाडोर आयेंदे की हत्या हुई और जनरल पिनोशे के साथ हत्यारे दस्तों, गुमशुदगियों और आतंक का राज आया जो सत्रह वर्ष तक चला। (आयेंदे का जुर्म था एक लोकतांत्रिक ढंग से चुना हुआ समाजवादी होना और चीले की खानों का राष्ट्रीयकरण करना।)

1957 में रॉकफेलर फाउंडेशन ने एशिया में सामुदायिक नेताओं के लिए रेमन मैग्सेसे पुरस्कार की स्थापना की। इसे फिलीपीन्स के राष्ट्रपति रेमन मैग्सेसे का नाम दिया गया जो दक्षिण-पूर्व एशिया में साम्यवाद के खिलाफ अमेरिका के अभियान के महत्त्वपूर्ण सहयोगी थे। 2000 में फोर्ड फाउंडेशन ने रेमन मैग्सेसे इमर्जंट लीडरशिप पुरस्कार की स्थापना की। भारत में कलाकारों, एक्टिविस्टों और सामाजिक कार्यकर्ताओं के बीच मैग्सेसे पुरस्कार की बड़ी प्रतिष्ठा है। एम.एस. सुब्बलक्ष्मी को यह पुरस्कार मिला था और उसी तरह जयप्रकाश नारायण और भारत के बेहतरीन पत्रकार पी. साइनाथ को भी। मगर जितना फायदा पुरस्कार से इन लोगों का हुआ उस से अधिक इन्होंने पुरस्कार को पहुंचाया। कुल मिला कर यह इस बात का नियंता बन गया है कि किस प्रकार का ‘एक्टिविज्म’ स्वीकार्य है और किस प्रकार का नहीं।

दिलचस्प यह कि पिछली गर्मियों में हुए अण्णा हजारे के भ्रष्टाचार-विरोधी आंदोलन की अगुआई तीन मैग्सेसे पुरस्कार-प्राप्त व्यक्ति कर रहे थे – अण्णा हजारे, अरविन्द केजरीवाल और किरण बेदी। अरविन्द केजरीवाल के बहुत से गैर-सरकारी संगठनों में से एक को फोर्ड फाउंडेशन से अनुदान मिलता है। किरण बेदी के एनजीओ को कोका कोला और लेहमन ब्रदर्स से पैसा मिलता है।

भले ही अण्णा हजारे स्वयं को गांधीवादी कहते हैं, मगर जिस कानून की उन्होंने मांग की है- जन लोकपाल बिल- वह अभिजातवादी, खतरनाक और गांधीवाद के विरुद्ध है। चौबीसों घंटे चलने वाले कॉर्पोरेट मीडिया अभियान ने उन्हें ‘जनता’ की आवाज घोषित कर दिया। अमेरिका में हो रहे ऑक्युपाइ वॉल स्ट्रीट आंदोलन के विपरीत हजारे आंदोलन ने निजीकरण, कॉर्पोरेट

ताकत और आर्थिक 'सुधारों' के खिलाफ एक शब्द नहीं बोला। उसके विपरीत इसके प्रमुख मीडिया समर्थकों ने बड़े-बड़े कॉर्पोरेट भ्रष्टाचार घोटालों (जिनमें नामी पत्रकारों का भी पर्दाफाश हुआ था) से जनता का ध्यान सफलतापूर्वक हटा दिया और राजनीतिकों की जन-आलोचना का इस्तेमाल सरकार के विवेकाधीन अधिकारों में और कमी लाने एवं और अधिक निजीकरण की मांग करने के लिए इस्तेमाल किया। (2008 में अण्णा हजारे ने विश्व बैंक से उत्कृष्ट जन सेवा का पुरस्कार लिया।) विश्व बैंक ने वाशिंगटन से एक वक्तव्य जारी किया कि यह आंदोलन उसकी नीतियों से पूरी तरह 'मेल खाता' है।

बहुलतावाद का मुखौटा

सभी अच्छे साम्राज्यवादियों की तरह परोपकारीजनों ने अपने लिए ऐसा अंतर्राष्ट्रीय काडर तैयार और प्रशिक्षित करने का काम चुना जो इस पर विश्वास करे कि पूंजीवाद और उसके विस्तार के तौर पर अमेरिकी वर्चस्व उनके स्वयं के हित में है। और इसीलिए वे लोग ग्लोबल कॉर्पोरेट गवर्नमेंट को चलाने में वैसे ही मदद करें जैसे देशी संभ्रांतों ने हमेशा उपनिवेशवाद की सेवा की है। इसलिए फाउंडेशन शिक्षा और कला के क्षेत्रों में उतरे जो विदेश नीति और घरेलू आर्थिक नीति के बाद उनका तीसरा प्रभाव क्षेत्र बन गया। उन्होंने करोड़ों डॉलर अकादमिक संस्थानों और शिक्षाशास्त्र पर खर्च किए (और करते जा रहे हैं)।

अपनी अद्भुत पुस्तक फाउंडेशंस एंड पब्लिक पॉलिसी: द मास्क ऑफ प्ल्युरलिज्म में जोन रूलोफ्स बयां करती हैं कि किस तरह फाउंडेशनों ने राजनीति विज्ञान को कैसे पढ़ाया जाए इस विषय के पुराने विचारों में बदलाव कर 'इंटरनेशनल' (अंतर्राष्ट्रीय) और 'एरिया' (क्षेत्रीय) स्टडीज (अध्ययन) की विधाओं को रूप दिया। इसने अमेरिकी गुप्तचर और सुरक्षा सेवाओं को अपने रंगरूट भर्ती करने के लिए विदेशी भाषाओं और संस्कृति में विशेषज्ञता का एक पूल उपलब्ध करवाया। आज भी सीआइए और अमेरिकी विदेश मंत्रालय अमेरिकी विश्वविद्यालयों में विद्यार्थियों और प्रोफेसरों के साथ काम करते हैं जो विद्वत्ता को लेकर गंभीर नैतिक सवाल खड़े करता है।

जिन लोगों पर शासन किया जा रहा है उन पर नियंत्रण रखने के लिए सूचना एकत्रित करना किसी भी शासक सत्ता का मूलभूत सिद्धांत है। जिस समय भूमि अधिग्रहण और नई आर्थिक नीतियों के खिलाफ प्रतिरोध भारत में बढ़ता जा रहा है, तब मध्य भारत में खुल्लमखुल्ला जंग की छाया में, सरकार ने नियंत्रण तकनीक के तौर पर एक विशाल

बायोमेट्रिक कार्यक्रम का प्रारंभ किया, यूनिक आइडेंटीफिकेशन नंबर (विशिष्ट पहचान संख्या या यूआइडी) जो शायद दुनिया का सर्वाधिक महत्त्वाकांक्षी और बड़ी लागत की सूचना एकत्रीकरण परियोजना है। लोगों के पास पीने का साफ पानी, या शौचालय, या खाना, या पैसा नहीं है मगर उनके पास चुनाव कार्ड या यूआइडी नंबर होंगे। क्या यह संयोग है कि इनफोसिस के पूर्व सीईओ नंदन नीलकेणी द्वारा चलाया जा रहा यूआइडी प्रोजेक्ट, जिसका प्रकट उद्देश्य 'गरीबों को सेवाएं उपलब्ध करवाना' है, आइटी उद्योग में बहुत ज्यादा पैसा लगाएगा जो आजकल कुछ परेशानी में है? (यूआइडी बजट का मोटा अंदाज भी भारत सरकार के वार्षिक शिक्षा खर्च से ज्यादा है।) इतनी ज्यादा तादाद में नाजायज और "पहचान रहित" – लोग जो झुग्गियों में रहने वाले हैं, खोमचे वाले हैं, ऐसे आदिवासी हैं जिनके पास भूमि के पट्टे नहीं- जनसंख्या वाले देश को 'डिजीटलाइज' करने का असर यह होगा कि उनका अपराधीकरण हो जायेगा, वे नाजायज से अवैध हो जायेंगे। योजना यह है कि एन्क्लोजर ऑफ कॉमंस का डिजिटल संस्करण तैयार किया जाए और लगातार सख्त होते जा रहे पुलिस राज्य के हाथों में अपार अधिकार सौंप दिए जाएं।

आंकड़ों का जुनून

आंकड़े जमा करने को लेकर नीलकेणी का जुनून बिल्कुल वैसा ही है जैसा डिजिटल आंकड़ा कोष, 'संख्यात्मक लक्ष्यों' और 'विकास के स्कोरकार्ड' को लेकर बिल गेट्स का जुनून है। मानो सूचना का अभाव ही विश्व में भूख का कारण हो न कि उपनिवेशवाद, कर्जा और विकृत मुनाफा-केंद्रित कॉर्पोरेट नीति।

कॉर्पोरेट-अनुदान से चलने वाले फाउंडेशन समाज-विज्ञान और कला के सबसे बड़े धनदाता हैं जो 'विकास अध्ययन', 'समुदाय अध्ययन', 'सांस्कृतिक अध्ययन', 'व्यवहारसंबंधी अध्ययन' और 'मानव अधिकार' जैसे पाठ्यक्रमों के लिए अनुदान और छात्रवृत्तियां प्रदान करते हैं। जब अमेरिकी विश्वविद्यालयों ने अपने दरवाजे अंतर्राष्ट्रीय विद्यार्थियों के लिए खोल दिए, तो लाखों छात्र, तीसरी दुनिया के संभ्रांतों के बच्चे, प्रवेश करने लगे। जो फीस का

खर्चा वहन नहीं कर सकते थे उन्हें छात्रवृत्तियां दी गईं। आज भारत और पाकिस्तान जैसे देशों में शायद ही कोई उच्च मध्यमवर्गीय परिवार होगा जिसमें अमेरिका में पढ़ा हुआ बच्चा न हो। इन्हीं लोगों के बीच से अच्छे विद्वान और अध्यापक ही नहीं आए हैं बल्कि प्रधानमंत्री, वित्तमंत्री, अर्थशास्त्री, कॉर्पोरेट वकील, बैंकर और नौकरशाह भी निकले हैं जिन्होंने अपने देशों की अर्थव्यवस्थाओं को वैश्विक कॉर्पोरेशनों के लिए खोलने में मदद की है।

अर्थशास्त्र और राजनीति-विज्ञान के फाउंडेशनों की ओर मित्रवत संस्करण के विद्वानों को फेलोशिप, अनुसंधान निधियों, अनुदानों और नौकरियों से नवाजा गया। जिनके विचार फाउंडेशनों की ओर मित्रवत नहीं थे उन्हें अनुदान नहीं मिले, हाशिये पर डाल अलग-थलग कर दिया गया और उनके पाठ्यक्रम बंद कर दिए गए। धीरे-धीरे एक खास तरह की सोच- एकमात्र सर्वआच्छादित और अत्यंत एकांगी आर्थिक विचारधारा की छत के नीचे सहिष्णुता और बहुसंस्कृतिवाद (जो क्षण भर में नस्लवाद, उन्मत्त राष्ट्रवाद, जातीय उग्रराष्ट्रीयता, युद्ध भड़काऊ इस्लामोफोबिया में बदल जाता है) का भुरभुरा और सतही दिखावा – विमर्श पर हावी होने लगा। ऐसा इस हद तक हुआ कि अब उसे एक विचारधारा के तौर पर देखा ही नहीं जाता। यह एक डीफॉल्ट पोजीशन बन गई है, एक प्राकृतिक अवस्था। उसने सामान्य स्थिति में घुसपैठ कर ली, साधारणता को उपनिवेशित कर लिया और उसे चुनौती देना यथार्थ को चुनौती देने जितना बेतुका या गूढ़ प्रतीत होने लगा। यहां से 'और कोई विकल्प नहीं' तक तुरंत पहुंचना एक आसान कदम था।

शुक्र है ऑक्युपाइ आंदोलन का कि अब जाकर अमेरिकी सड़कों और विश्वविद्यालयीन परिसरों में दूसरी भाषा नजर आई है। इस विपरीत परिस्थिति में 'क्लास वार' और 'हमें आपके अमीर होने से दिक्कत नहीं, पर हमारी सरकार को खरीद लेने से दिक्कत है' लिखे हुए बैनर उठाये छात्रों को देखना लगभग अपने आप में इंकलाब है।

अपनी शुरुआत के एक सदी बाद कॉर्पोरेट परोपकार कोका कोला की मानिंद हमारे जीवन का हिस्सा बन गया है। अब करोड़ों गैर-लाभ संस्थाएं हैं, जिनमें बहुत सारी जटिल वित्तीय नेटवर्क के द्वारा बड़े फाउंडेशनों से जुड़ी हुई हैं। इन सारी संस्थाओं को मिलाकर इस 'स्वतंत्र' सेक्टर की कुल परिसंपत्ति 45,000 करोड़ डॉलर है। उनमें सबसे बड़ा है बिल

गेट्स फाउंडेशन (2,100 करोड़ डॉलर), उसके बाद लिली एन्डाउमेंट (1,600 करोड़ डॉलर) और द फोर्ड फाउंडेशन (1,500 करोड़ डॉलर)।

जब अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष ने संरचनात्मक समायोजन या स्ट्रक्चरल एड्जस्टमेंट्स के लिए दबाव बनाया और सरकारों से स्वास्थ्य, शिक्षा, शिशु पालन और विकास के लिए सरकारी खर्च जबरदस्ती कम करवाया, तो एनजीओ सामने आये। सबकुछ के निजीकरण का मतलब सबकुछ का एनजीओकरण भी है। जिस तरह नौकरियां और आजीविकाएं ओझल हुई हैं, एनजीओ रोजगार का प्रमुख स्रोत बन गए हैं, उन लोगों के लिए भी जो उनकी सच्चाई से वाकिफ हैं। जरूरी नहीं कि सारे एनजीओ खराब हों। लाखों एनजीओ में से कुछ उत्कृष्ट और रैडिकल काम कर रहे हैं और सभी एनजीओ को एक ही तराजू से तौलना हास्यास्पद होगा। परन्तु कॉर्पोरेट या फाउंडेशनों से अनुदान प्राप्त एनजीओ वैश्विक वित्त की खातिर प्रतिरोध आंदोलनों को खरीदने का तरीका बन गए हैं, बिल्कुल उसी तरह जैसे शेयरहोल्डर कंपनियों के शेयर खरीदते हैं और फिर उन्हें अंदर से नियंत्रित करने की कोशिश करते हैं। वे केंद्रीय तंत्रिका तंत्र अथवा सेंट्रल नर्वस सिस्टम के बिंदुओं की तरह विराजमान हैं, उन रास्तों की तरह जिन पर वैश्विक वित्त प्रवाहित होता है। वे ट्रांसमीटरों, रिसीवरों, शॉक एब्जॉर्बरों की तरह काम करते हैं, हर आवेग के प्रति चौकस होते हैं, सावधानी बरतते हैं कि मेजबान देश की सरकारों को परेशानी न हो। (फोर्ड फाउंडेशन जिन संस्थाओं को पैसा देता है उनसे प्रतिज्ञापत्र पर दस्तखत करवाता है जिनमें ये सब बातें होती हैं)। अनजाने में (और कभी-कभी जानबूझकर), वे जासूसी चौकियों की तरह काम करते हैं, उनकी रपटें और कार्यशालाएं और दीगर मिशनरी गतिविधियां और अधिक सख्त होते राज्यों की और अधिक आक्रामक होती निगरानी व्यवस्था को आंकड़े पहुंचाते हैं। जितना अशांत क्षेत्र होगा, उतने अधिक एनजीओ वहां काम करते पाए जायेंगे।

शरारती ढंग से जब सरकार या कॉर्पोरेट प्रेस नर्मदा बचाओ आंदोलन या कुडनकुलम आणविक संयंत्र के विरोध जैसे असली जनांदोलनों की बदनामी का अभियान चलाना चाहते हैं, तो वे आरोप लगाते हैं कि ये जनांदोलन 'विदेशी वित्तपोषित' प्राप्त एनजीओ हैं। उन्हें भली-भांति पता है कि अधिकतर एनजीओ को, खासकर जिन्हें अच्छी राशि मिलती है, को कॉर्पोरेट वैश्वीकरण को बढ़ावा देने का आदेश मिला हुआ है न कि उसमें रोड़े अटकाने का।

अपने अरबों डॉलर के साथ इन एनजीओ ने दुनिया में अपनी राह बनाई है, भावी क्रांतिकारियों को वेतनभोगी एक्टिविस्टों में बदलकर, कलाकारों, बुद्धिजीवियों और फिल्मकारों को अनुदान देकर, उन्हें हौले से फुसलाकर उग्र मुठभेड़ से परे ले जाकर, बहुसंस्कृतिवाद, जेंडर, सामुदायिक विकास की दिशा में प्रवेश कराकर- ऐसा विमर्श जो पहचान की राजनीति और मानव अधिकारों की भाषा में बयां किया जाता है।

न्याय की संकल्पना का मानव अधिकारों के उद्योग में परिवर्तन एक ऐसा वैचारिक तख्तापलट रहा है जिसमें एनजीओ ने महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है। मानव अधिकारों का संकीर्ण दृष्टि से बात करना एक अत्याचार-आधारित विश्लेषण की राह बनाता है जिसमें असली सूरत छुपाई जा सकती है और संघर्षरत दोनों पक्षों को- मसलन, माओवादी और भारत सरकार, या इजराइली सेना और हमास- दोनों को मानव अधिकारों के उल्लंघन के नाम पर डांट पिलाई जा सकती है। खनिज कॉर्पोरेशनों द्वारा जमीन कब्जाना या इजरायली राज्य द्वारा फिलिस्तीनी भूमि को कब्जे में करना, ऐसी बातें फुटनोट्स बन जाती हैं जिनका विमर्श से बहुत थोड़ा संबंध होता है। कहने का मतलब यह नहीं कि मानव अधिकारों की कोई अहमियत नहीं। अहमियत है, पर वे उतना अच्छा प्रिज्म नहीं हैं जिसमें से हमारी दुनिया की भयानक नाइंसाफियों को देखा जाए या किंचित भी समझा जाए।

नारीवाद का भटकाव

एक और वैचारिक तख्ता पलट का संबंध नारीवादी आंदोलन में फाउंडेशनों की सहभागिता से है। भारत में ज्यादातर 'अधिकृत' नारीवादी और महिलाओं के संगठन क्यों 90,000 सदस्यीय क्रांतिकारी महिला आदिवासी संगठन जैसे संगठनों से सुरक्षित दूरी बनाये रखते हैं जो अपने समुदायों में पितृसत्ता और दंडकारण्य के जंगलों में खनन कॉर्पोरेशनों द्वारा हो रहे विस्थापन के खिलाफ लड़ रहे हैं? ऐसा क्यों है कि लाखों महिलाओं की उस भूमि से बेदखली और निष्कासन, जिसकी वे मालिक हैं और जिस पर उन्होंने मेहनत की है, एक महिलावादी मुद्दा नहीं है?

उदारवादी नारीवादी आंदोलन के जमीन से जुडे साम्राज्यवाद-विरोधी और पूंजीवाद-विरोधी जनांदोलनों से अलग होने की शुरुआत फाउंडेशनों की दुष्टता भरी चालों से नहीं हुई। यह

शुरुआत साठ और सत्तर के दशक में हुए महिलाओं के तेजी से हो रहे रैडिकलाइजेशन के अनुरूप बदलने और उसे समायोजित करने में उस दौर के आंदोलनों की असमर्थता से हुई। हिंसा और अपने पारंपरिक समाजों में यहां तक कि वामपंथी आंदोलनों के तथाकथित प्रगतिशील नेताओं में मौजूद पितृसत्ता को लेकर बढ़ती अधीरता को पहचानने में और उसे सहारा और आर्थिक सहयोग देने हेतु आगे आने में फाउंडेशनों ने बुद्धिमानी दिखाई। भारत जैसे देश में ग्रामीण और शहरी वर्गीकरण में फूट भी थी। ज्यादातर रैडिकल और पूंजीवाद-विरोधी आंदोलन ग्रामीण इलाकों में स्थित थे, जहां महिलाओं की जिंदगी पर पितृसत्ता का व्यापक राज चलता था। शहरी महिला एक्टिविस्ट जो इन आंदोलनों (जैसे नक्सली आंदोलन) का हिस्सा बनीं, वे पश्चिमी महिलावादी आंदोलन से प्रभावित और प्रेरित थीं और मुक्ति की दिशा में उनकी अपनी यात्राएं अक्सर उसके विरुद्ध होतीं जिसे उनके पुरुष नेता उनका कर्तव्य मानते थे: यानी 'आम जनता' में घुल-मिल जाना। बहुत सी महिला एक्टिविस्ट अपने जीवन में होने वाले रोजमर्रा के उत्पीड़न और भेदभाव, जो उनके अपने कामरेडों द्वारा भी किए जाते थे, को खत्म करने के लिए 'क्रांति' तक रुकने के लिए तैयार नहीं थीं। लैंगिक बराबरी को वे क्रांतिकारी प्रक्रिया का मुकम्मल, अत्यावश्यक, बिना किसी किस्म की सौदेबाजी वाला हिस्सा बनाना चाहती थीं न कि क्रांति के उपरान्त का वायदा। समझदार हो चुकीं, क्रोधित और मोहभंग में महिलाएं दूर हटने लगीं और समर्थन और सहारे के दूसरे माध्यम तलाशने लगीं। परिणामत: अस्सी का दशक खत्म होते-होते, लगभग उसी समय जब भारतीय बाजारों को खोल दिया गया था, भारत जैसे देश में उदारवादी महिलावादी आंदोलन का बहुत ज्यादा एनजीओकरण हो गया था। इन में से बहुत से एनजीओ ने समलैंगिक अधिकारों, घरेलू हिंसा, एड्स और देह व्यापार करने वालों के अधिकारों को लेकर बहुत महत्त्वपूर्ण काम किया है। मगर यह उल्लेखनीय है कि उदार नारीवादी आंदोलन नई आर्थिक नीतियों के विरोध में आगे नहीं आये हैं, बावजूद इसके कि महिलाएं इनसे और भी ज्यादा पीड़ित हुई हैं। धन वितरण को हथियार की तरह इस्तेमाल करके, फाउंडेशन 'राजनीतिक' गतिविधि' क्या होनी चाहिए इसको काफी हद तक निर्धारित करने में सफल रहे हैं। फाउंडेशनों के अनुदान संबंधी सूचनापत्रों में आजकल बताया जाता है कि किन बातों को महिलाओं के 'मुद्दे' माना जाए और किन को नहीं।

महिलाओं के आंदोलन के एनजीओकरण ने पश्चिमी उदार नारीवाद को (सबसे ज्यादा वित्तपोषित होने के कारण) नारीवाद क्या होता है का झंडाबरदार बना दिया है। लड़ाइयां,

हमेशा की तरह, महिलाओं की देह को लेकर लड़ी गईं, एक सिरे पर बोटोक्स को खींच कर और दूसरे पर बुर्के को। (और फिर वे भी हैं जिन पर बोटोक्स और बुर्के की दोहरी मार पड़ती है।) जब महिलाओं को जबरदस्ती बुर्के से बाहर लाने की कोशिश की जाती है, जैसा कि हाल ही में फ्रांस में हुआ, बजाय यह करने के कि ऐसी परिस्थितियां निर्मित की जाएं कि महिलाएं खुद चुनाव कर पाएं कि उन्हें क्या पहनना है और क्या नहीं, तब बात उसे आजाद करने की नहीं उसके कपड़े उतारने की हो जाती है। यह अपमान और सांस्कृतिक साम्राज्यवाद का काम हो जाता है। बात बुर्के की नहीं है। बात जबरदस्ती की है। महिलाओं को जबरदस्ती बुर्के से बाहर निकालना वैसा ही है जैसे उन्हें जबरदस्ती बुर्का पहनाना। जेंडर को इस तरह देखना, मतलब सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक संदर्भ के बिना, उसे पहचान का मुद्दा बना देता है, सिर्फ पहनावे और दिखावे की चीजों की लड़ाई। यही वह था जिसने अमेरिकी सरकार को 2001 में अफगानिस्तान पर हमला करते समय पश्चिमी महिलावादी समूहों की नैतिक आड़ लेने का मौका दिया। अफगानी औरतें तालिबान के राज में भयानक मुश्किलों में थीं (और हैं)। मगर उन पर बम बरसा कर उनकी समस्याओं का समाधान नहीं होने वाला था।

एनजीओ जगत में, जिसने अपनी अनोखी दर्दनिवारक भाषा तैयार कर ली है, सब कुछ एक विषय बन गया है, एक अलग, पेशेवरी, विशेष अभिरुचि वाला मुद्दा। सामुदायिक विकास, नेतृत्व विकास, मानव अधिकार, स्वास्थ्य, शिक्षा, प्रजननीय अधिकार, एड्स, एड्स से संक्रमित अनाथ बच्चे- इन सबको अपने-अपने कोटर में हवाबंद कर दिया गया है और जिनके अपने-अपने विस्तृत और स्पष्ट अनुदान नियम हैं। फंडिंग ने एकजुटता को इस तरह टुकड़े-टुकड़े कर दिया है जैसा दमन कभी नहीं कर पाया। गरीबी को भी, महिलावाद की तरह, पहचान की समस्या के तौर पर गढ़ा जाता है। मानो गरीब अन्याय से तैयार नहीं हुए बल्कि वे कोई खोई हुई प्रजाति हैं जो अस्तित्व में हैं, और जिनका अल्पकालिक बचाव समस्या निवारण तंत्र (एनजीओ द्वारा व्यक्तिगत आपसी आधार पर संचालित) द्वारा किया जा सकता है और दीर्घकालिक बचाव सुशासन या गुड गवर्नंस से होगा। वैश्विक कॉर्पोरेट पूंजीवाद के शासनकाल में यह बोल कर बताने की जरूरत नहीं।

गरीबी की चमक

भारतीय गरीबी, जब भारत 'शाइन' कर रहा था उस दौरान कुछ थोड़े वक्त के नेपथ्य में चले जाने के बाद , फिर से कला के क्षेत्र में आकर्षक विषय के तौर पर लौट आई है, इसका नेतृत्व स्लमडॉग मिलियनेयर जैसी फिल्में कर रही हैं। गरीबों, उनकी गजब की जीजीविषा और गिरकर उठने की क्षमता की इन कहानियों में कोई खलनायक नहीं होते – सिवाय छोटे खलनायकों के जो नेरेटिव टेंशन और स्थानिकता का पुट देते हैं। इन रचनाओं के लेखक पुराने जमाने के नृशास्त्रियों के आज के समानधर्मा जैसे हैं, जो 'जमीन' पर काम करने के लिए, अज्ञात की अपनी साहसिक यात्राओं के लिए सराहे जाते और सम्मान पाते हैं। आप को इन तरीकों से अमीरों की जांच-परख शायद ही कभी देखने को मिले।

ये पता कर लेने के बाद कि सरकारों, राजनीतिक दलों, चुनावों, अदालतों, मीडिया और उदारवादी विचार का बंदोबस्त किस तरह किया जाये, नव-उदारवादी प्रतिष्ठान के सामने एक और चुनौती थी: बढ़ते असंतोष, 'जनता की शक्ति' के खतरे से कैसे निबटा जाए? उसे वश में किया जाए? विरोधकर्ताओं को पालतुओं में कैसे बदलें? जनता के क्रोध को किस तरह खींचा जाए और अंधी गलियों की ओर मोड़ दिया जाये?

इस मामले में भी फाउंडेशनों और उनके आनुषंगिक संगठनों का लंबा और सफल इतिहास है। साठ के दशक में अमेरिका में अश्वेतों के सिविल राइट्स मूवमेंट (नागरिक अधिकार या समानता के आंदोलन) की हवा निकालना और उसे नरम करने और 'ब्लैक पावर' (अश्वेत शक्ति)के 'ब्लैक कैपिटलिज्म' (अश्वेत पूंजीवाद) में यशस्वी रूपांतरण में उनकी भूमिका इस बात का प्रमुख उदाहरण है।

जे डी रॉकफेलर के आदर्शों के अनुसार रॉकफेलर फाउंडेशन ने मार्टिन लूथर किंग सीनियर (मार्टिन लूथर किंग जूनियर के पिता) के साथ मिलकर काम किया। मगर स्टूडेंट नॉनवायलेंट कोआर्डिनेशन कमेटी (एसएनसीसी या छात्र अहिंसक समन्वय समिति) और ब्लैक पैंथर्स (काले चीते) जैसे अधिक आक्रामक संगठनों के उभरने के बाद उनका प्रभाव कम हो गया। फोर्ड और रॉकफेलर फाउंडेशन दाखिल हुए। 1970 में उन्होंने अश्वेतों के 'नरम' संगठनों को डेढ़ करोड़ डॉलर दिए। यह लोगों को अनुदान, फेलोशिप, छात्रवृत्तियां, पढ़ाई छोड़ चुके लोगों के लिए रोजगार प्रशिक्षण कार्यक्रम और कालों के व्यापारिक

प्रतिष्ठानों के लिए प्रारंभिक धन के रूप में मिले। दमन, आपसी झगड़े और पैसों के जाल ने रेडिकल अश्वेत आंदोलन को धीरे-धीरे कुंद कर दिया।

मार्टिन लूथर किंग जूनियर ने पूंजीवाद, साम्राज्यवाद, नस्लवाद और वियतनाम युद्ध के निषिद्ध संबंध को चिह्नित किया था। परिणामस्वरूप उनकी हत्या के बाद उनकी स्मृति तक सुव्यवस्था के लिए विषभरा खतरा बन गई। फाउंडेशनों और कॉर्पोरेशनों ने उनकी विरासत को नया रूप देने के लिए काफी मेहनत की ताकि वह मार्केट-फ्रेंडली स्वरूप में फिट हो सके। फोर्ड मोटर कंपनी, जनरल मोटर्स, मोबिल, वेस्टर्न इलेक्ट्रिक, प्रॉक्टर एंड गैंबल, यूएस स्टील, मोंसैंटो और कई दूसरों ने मिलकर 20 लाख डॉलर के क्रियाशील अनुदान के साथ द मार्टिन लूथर किंग जूनियर सेंटर फॉर नॉनवाइलेंट सोशल चेंज (मार्टिन लूथर किंग जूनियर अहिंसक सामाजिक बदलाव केंद्र) की स्थापना की। यह सेंटर किंग पुस्तकालय चलाता है और नागरी अधिकार आंदोलन के पुरालेखों का संरक्षण करता है। यह सेंटर जो बहुत सारे कार्यक्रम चलाता है उनमें कुछ प्रोजेक्ट ऐसे रहे हैं जिनमें उन्होंने 'अमेरिकी रक्षा विभाग (यूनाइटेड स्टेट्स डिपार्टमेंट ऑफ डिफेंस), आर्म्ड फोर्सेस चैप्लेंस बोर्ड (सशस्त्र सेना पुरोहित बोर्ड) और अन्यों के साथ मिलकर काम किया है'। यह मार्टिन लूथर किंग जूनियर व्याख्यान माला 'द फ्री इंटरप्राइज सिस्टम : एन एजेंट फॉर नॉनवाइलेंट सोशल चेंज' (मुक्त उद्यम व्यवस्था: अहिंसक सामाजिक बदलाव के लिए एक कारक) विषय पर सहप्रायोजक था।

ऐसा ही तख्तापलट दक्षिण अफ्रीका के रंग-भेद विरोधी संघर्ष में करवाया गया। 1978 में रॉकफेलर फाउंडेशन ने दक्षिण अफ्रीका के प्रति अमेरिकी नीति को लेकर एक अध्ययन आयोग का गठन किया। रिपोर्ट ने अफ्रीकी नेशनल कांग्रेस (एएनसी) में सोवियत संघ के बढ़ते प्रभाव के बारे चेताया और कहा कि सभी नस्लों के बीच राजनीतिक सत्ता की सच्ची हिस्सेदारी हो, यही अमेरिकी के सामरिक और कॉर्पोरेट हितों (अर्थात दक्षिण अफ्रीका के खनिजों तक पहुंच) के लिए शुभ यही होगा।

फाउंडेशनों ने एएनसी की सहायता करना शुरू कर दिया। जल्द ही एएनसी स्टीव बीको की ब्लैक कॉन्शसनेस मूवमेंट (अश्वेत चेतना आंदोलन) जैसे अधिक रैडिकल आंदोलनों पर चढ़ बैठी और उन्हें कमोबेश खत्म कर के छोड़ा। जब नेल्सन मंडेला दक्षिण अफ्रीका के पहले

अश्वेत राष्ट्रपति बने तो उन्हें जीवित संत घोषित कर दिया गया, सिर्फ इसलिए नहीं कि वह 27 साल जेल में बिता चुके स्वतंत्रता सेनानी थे बल्कि इसलिए कि उन्होंने वाशिंगटन समझौते को पूरी तरह स्वीकार कर लिया था। एएनसी के एजेंडे से समाजवाद पूरी तरह गायब हो गया। दक्षिण अफ्रीका के बहुप्रशंसित महान 'शांतिपूर्ण परिवर्तन' का मतलब था कोई भूमि सुधार नहीं, कोई क्षतिपूर्ति नहीं, दक्षिण अफ्रीका की खानों का राष्ट्रीयकरण भी नहीं। इसकी जगह हुआ निजीकरण और संरचनात्मक समायोजन। मंडेला ने दक्षिण अफ्रीका के सर्वोच्च नागरी अलंकरण -द ऑर्डर ऑफ गुड होप – से इंडोनेशिया में कम्युनिस्टों के हत्यारे,अपने पुराने समर्थक और मित्र जनरल सुहार्तो को सम्मानित किया। आज दक्षिण अफ्रीका में मर्सिडीज में घूमने वाले पूर्व रैडिकलों और ट्रेड यूनियन नेताओं का गुट देश पर राज करता है। और यह ब्लैक लिबरेशन (अश्वेत मुक्ति) के भरम को हमेशा बनाये रखने के लिए काफी है।

दलित पूंजीवाद की ओर

अमेरिका में अश्वेत शक्ति का उदय भारत में रैडिकल, प्रगतिशील दलित आंदोलन के लिए प्रेरणा का स्रोत था और दलित पैंथर जैसे संगठन ब्लैक पैंथर जैसे संगठनों की प्रतिबिंबन थे। लेकिन दलित शक्ति भी ठीक उसी तरह नहीं पर लगभग उन्हीं तौर-तरीकों से दक्षिणपंथी हिंदू संगठनों और फोर्ड फाउंडेशन की खुली मदद से विभाजित और कमजोर कर दी गई है। यह अब दलित पूंजीवाद के रूप में बदलने की ओर बढ़ रही है।

पिछले साल दिसंबर में इंडियन एक्सप्रेस की रिपोर्ट थी: 'दलित इनक्लेव रेडी टू शो बिजऩेस कैन बीट कास्ट'। इसमें दलित इंडियन चेंबर ऑफ कॉमर्स एंड इंडस्ट्रीज (डिक्की) के एक सलाहकार को उद्धृत किया गया था। 'हमारे समाज में दलितों की सभा के लिए प्रधान मंत्री को लाना मुश्किल नहीं है। मगर दलित उद्यमियों के लिए टाटा या गोदरेज के साथ दोपहर के खाने पर या चाय पर एक तस्वीर खिंचवाना एक अरमान होता है – और इस बात का सबूत कि वे आगे बढ़ेहैं,' उन्होंने कहा। आधुनिक भारत की परिस्थिति को देखते हुए यह कहना जातिवादी और प्रतिक्रियावादी होगा कि दलित उद्यमियों को नामी-गरामी उद्योगपतियों के साथ बैठने (हाई टेबल पर जगह पाने) की कोई जरूरत नहीं। मगर यह अभिलाषा, अगर दलित राजनीति का वैचारिक ढांचा होने लगी तो बड़े शर्म की बात

होगी। और इस से उन करोड़ों दलितों को भी कोई मदद नहीं मिलेगी जो अब भी अपने हाथों से कचरा साफ करके जीविका चलाते हैं- अपने सिरों पर आदमी की विष्ठा ढोते हैं।

वामपंथी आंदोलन की असफलताएं

फोर्ड फाउंडेशन से अनुदान स्वीकार करने वाले युवा दलित स्कॉलरों के प्रति कठोर नहीं हुआ जा सकता। भारतीय जाति व्यवस्था के मलकुंड से बाहर निकलने का मौका उन्हें और कौन दे रहा है? इस घटनाक्रम का काफी हद तक दोष और शर्मिंदगी दोनों ही भारत के कम्युनिस्ट आंदोलन के सर है जिसके नेता आज भी मुख्यतः ऊंची जातियों से आते हैं। इसने सालों से जाति के सिद्धांत को मार्क्सवादी वर्ग विश्लेषण में जबरदस्ती फिट करने की कोशिश की है। यह कोशिश सिद्धांत और व्यवहार दोनों में ही बुरी तरह असफल रही है। दलित समुदाय और वाम के बीच की दरार पैदा हुई दलितों के दृष्टि संपन्न नेता भीमराव अंबेडकर एवं ट्रेड यूनियन नेता और भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी के संस्थापक सदस्य एस.ए.डांगे के बीच के झगड़े से। 1928 में मुंबई में कपड़ा मिल मजदूरों की हड़ताल से अंबेडकर का कम्युनिस्ट पार्टी से मोहभंग शुरू हुआ। तब उन्हें अहसास हुआ कि मेहनतकश वर्ग की एकजुटता के सारे शब्दाडंबरों के बावजूद पार्टी को इस बात से कोई आपत्ति न थी कि बुनाई विभाग से 'अछूतों' को बाहर रखा जाता है (और वे सिर्फ कम वेतन वाले कताई विभाग के योग्य माने जाते हैं) इसलिए कि उस काम में धागों पर थूक का इस्तेमाल करना पड़ता था और जिसे अन्य जातियां 'अशुद्ध' मानती थीं।

अंबेडकर को महसूस हुआ कि एक ऐसे समाज में जहां हिंदू शास्त्र छुआछूत और असमानता का संस्थाकरण करते हैं, वहां 'अछूतों' के लिए, उनके सामाजिक और नागरी अधिकारों के लिए तत्काल संघर्ष करना उस साम्यवादी क्रांति के इंतजार से कहीं ज्यादा जरूरी था जिसका आश्वासन था। अंबेडकरवादियों और वाम के बीच की दरार की दोनों ही पक्षों को बहुत बड़ी कीमत चुकानी पड़ी है। इसका मतलब यह निकला है कि दलित आबादी के बहुत बड़े हिस्से ने, जो भारत के मेहनतकश वर्ग की रीढ़ है, सम्मान और बेहतरी की अपनी उम्मीदें संविधानवाद, पूंजीवाद और बसपा जैसे राजनीतिक दलों से लगा ली हैं, जो पहचान की राजनीति के उस ब्रांड का पालन करते हैं जो महत्त्वपूर्ण तो है पर दीर्घकालिक तौर पर गतिहीन है।

अमेरिका में, जैसा कि हमने देखा, कॉर्पोरेट-अनुदानित फाउंडेशनों ने एनजीओ संस्कृति को जन्म दिया। भारत में लक्ष्य बना कर किए जाने वाले कॉर्पोरेट परोपकार की गंभीरतापूर्वक शुरूआत नब्बे के दशक में, नई आर्थिक नीतियों के युग में हुई। स्टार चेंबर की सदस्यता सस्ते में नहीं मिलती। टाटा समूह ने उस जरूरतमंद संस्थान, हार्वर्ड बिजनेस स्कूल, को पांच करोड़ डॉलर और कॉर्नेल विश्वविद्यालय को भी पांच करोड़ डॉलर दान किए। इनफोसिस के नंदन निलकेणी और उनकी पत्नी रोहिणी ने 50 लाख डॉलर येल विश्वविद्यालय के इंडिया इनिशिएटिव को शुरूआती निधि के तौर पर दान किए। महिंद्रा समूह द्वारा अब तक का सबसे बड़ा एक करोड़ डॉलर का अनुदान पाने के बाद हार्वर्ड ह्युमैनिटीज सेंटर का नाम अब महिंद्रा ह्युमैनिटीज सेंटर हो गया है।

यहां पर जिंदल समूह, जिसके खनन, धातु और ऊर्जा में बड़े निवेश हैं, जिंदल ग्लोबल लॉ स्कूल चलाता है और जल्द ही जिंदल स्कूल ऑफ गवर्नमेंट एंड पब्लिक पॉलिसी शुरू करने वाला है। (फोर्ड फाउंडेशन कांगो में एक विधि महाविद्यालय चलाता है।) इनफोसिस के मुनाफों से मिले पैसे से चलने वाला नंदन नीलकेणी द्वारा अनुदानित द न्यू इंडिया फाउंडेशन समाज विज्ञानियों को पुरस्कार और फेलोशिप देता है। ग्रामीण विकास, गरीबी निवारण, पर्यावरण शिक्षा और नैतिक उत्थान के क्षेत्रों में काम करने वालों के लिए जिंदल एल्युमिनियम से अनुदान प्राप्त सीताराम जिंदल फाउंडेशन ने एक-एक करोड़ रुपए के पांच नगद पुरस्कारों की घोषणा की है। रिलायंस समूह का ऑब्जर्वर रिसर्च फाउंडेशन (ओ.आर.एफ.), जिसे फिलहाल मुकेश अंबानी से धन मिलता है, रॉकफेलर फाउंडेशन के अंदाज में ढला है। इससे रिसर्च 'फेलो' और सलाहकारों के तौर पर गुप्तचर सेवाओं के सेवा निवृत्त एजेंट, सामरिक विश्लेषक, राजनेता (जो संसद में एक दूसरे के खिलाफ होने का नाटक करते हैं), पत्रकार और नीति निर्धारक जुड़े हैं।

ओ.आर.एफ. के उद्देश्य बड़े साफ-साफ प्रतीत होते हैं: 'आर्थिक सुधारों के पक्ष में आम सहमति तैयार करने हेतु सहायता करना। ' और 'पिछड़े जिलों में रोजगार निर्मिति और आणविक, जैविक और रसायनिक खतरों का सामना करने के लिए समयोचित कार्यनीतियां बनाने जैसे विविध क्षेत्रों में व्यवहार्य और पर्यायी नीतिगत विकल्प तैयार करके' आम राय को आकार देना और उसे प्रभावित करना।

ओ.आर.एफ. के घोषित उद्देश्यों में 'आणविक, जैविक और रसायनिक युद्ध' को लेकर अत्यधिक चिंता देखकर मैं शुरू में चक्कर में पड़ गई। मगर उसके 'संस्थागत सहयोगियों' की लंबी सूची में रेथियोन और लॉकहीड मार्टिन जैसे नाम देख कर हैरानी कम हुई। ये दोनों कंपनियां दुनिया की प्रमुख हथियार निर्माता हैं। 2007 में रेथियोन ने घोषणा की कि वे अब भारत पर अपना ध्यान केंद्रित करेंगे। क्या यह इसलिए है कि भारत के 3,200 करोड़ डॉलर के रक्षा बजट का कुछ हिस्सा रेथियोन और लॉकहीड मार्टिन द्वारा तैयार हथियारों, गाइडेड मिसाइलों, विमानों, नौसेना के जहाजों और निगरानी उपकरणों पर खर्च होगा?

हथियार क्यों चाहिए?

हथियारों की जरूरत जंग लड़ने के लिए होती है? या जंगों की जरूरत हथियारों के लिए बाजार तैयार करने के लिए होती है? जो भी हो योरोप, अमेरिका और इजऱाइल की अर्थव्यवस्थाएं बहुत कुछ उनके हथियार उद्योग पर निर्भर हैं। यही वह चीज है जो उन्होंने चीन को आउटसोर्स नहीं की।

अमेरिका और चीन के बीच के शीत युद्ध में भारत को उस भूमिका के लिए तैयार किया जा रहा है जो रूस के साथ शीत युद्ध में पाकिस्तान ने अमेरिका के सहयोगी के तौर पर निभाई थी। (देख लीजिये पाकिस्तान का हाल क्या हुआ।) भारत और चीन के बीच के लड़ाई-झगड़ों को जो स्तंभकार और 'रणनीतिक विश्लेषक' बढ़ा-चढ़ाकर पेश कर रहे हैं, देखा जाए तो उनमें से कई प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से इंडो-अमेरिकन थिंक टैंकों और फाउंडेशनों से जुड़े पाए जायेंगे। अमेरिका के 'सामरिक सहयोगी' होने का यह मतलब नहीं कि दोनों राष्ट्राध्यक्ष एक दूसरे को हमेशा दोस्ताना फोन कॉल करते रहें। इस का मतलब है हर स्तर पर सहयोग (हस्तक्षेप)। इसका मतलब है भारत की जमीन पर अमेरिकी स्पेशल फोर्सेस की मेजबानी करना (पेंटागन के एक कमांडर ने हाल ही में बीबीसी से इस बात की पुष्टि की)। इसका अर्थ है गुप्त सूचनाएं साझा करना, कृषि और ऊर्जा-संबंधी नीतियों में बदलाव करना, वैश्विक निवेश हेतु स्वास्थ्य और शिक्षा के क्षेत्रों को खोलना। इसका अर्थ है खुदरा क्षेत्र को खोलना। इसका मतलब है गैर-बराबर हिस्सेदारी जिसमें भारत को उसके

साथी द्वारा मजबूत बांहों में भरकर डांस फ्लोर पर नचाया जा रहा है और उसके नाचने से मना करते ही उसे भस्म कर दिया जाएगा।

ओ.आर.एफ. के 'संस्थागत सहयोगियों' की सूची में आपको रैंड कॉर्पोरेशन, फोर्ड फाउंडेशन, विश्व बैंक, ब्रूकिंग्स इंस्टिट्यूशन (जिनका घोषित मिशन है 'ऐसी अभिनव एवं व्यावहारिक अनुशंसाएं करना जो तीन वृहत लक्ष्यों को आगे बढ़ाये: अमेरिकी लोकतंत्र को मजबूत करना; सभी अमेरिकियों का आर्थिक और सामाजिक कल्याण, सुरक्षा और अवसर को बढ़ावा देना; और अधिक उदार, सुरक्षित, समृद्ध और सहकारात्मक अंतर्राष्ट्रीय व्यवस्था अर्जित करना'।) उस सूची में आपको जर्मनी के रोजा लक्जमबर्ग फाउंडेशन का नाम भी मिलेगा। (बेचारी रोजा, जिन्होंने साम्यवाद के ध्येय के लिए अपनी जान दी उनका नाम ऐसी सूची में!)

हालांकि पूंजीवाद प्रतिस्पर्धा पर आधारित होता है, मगर खाद्य श्रृंखला के शीर्ष पर बैठे हुए लोगों ने दिखाया है कि वे सबको मिलाकर चलने और एकजुटता दिखाने में समर्थ हैं। महान पश्चिमी पूंजीपतियों ने फासिस्टों, समाजवादियों, निरंकुश सत्ताधीशों और सैनिक तानाशाहों के साथ धंधा किया है। वे लगातार अपने आप को अनुकूलित कर सकते हैं और नए तरीके निकाल सकते हैं। वे तुरंत विचार करने और अपरिमित नीतिगत चतुराई में माहिर हैं।

मगर आर्थिक सुधारों के माध्यम से सफलतापूर्वक आगे बढ़ने, मुक्त बाजार 'लोकतंत्र' बिठाने के लिए लड़ाइयां छेड़ने और देशों पर सैन्य कब्जे जमाने के बावजूद, पूंजीवाद एक ऐसे संकट से गुजर रहा है जिसकी गंभीरता अभी तक पूरी तरह सामने नहीं आई है। मार्क्स ने कहा था, ' इसलिए बुर्जुआ वर्ग जो उत्पादित करता है, उनमें सबसे ऊपर होते हैं उसकी ही कब्रखोदनेवाले। इनका पतन और सर्वहारा की विजय दोनों समान रूप से अपरिहार्य हैं। '

सर्वहारा वर्ग, जैसा कि मार्क्स ने समझा था, लगातार हमले झेलता रहा है। फैक्टरियां बंद हो गई हैं, नौकरियां छूमंतर हो गई हैं, यूनियनें तोड़ डाली गई हैं। पिछले कई सालों से सर्वहारा को हर संभव तरीके से एक-दूसरे के खिलाफ खड़ा किया जाता रहा है। भारत में यह हिंदू बनाम मुस्लिम। हिंदू बनाम ईसाई, दलित बनाम आदिवासी, जाति बनाम जाति,

प्रदेश बनाम प्रदेश रहा है। और फिर भी, दुनिया भर में, सर्वहारा वर्ग लड़ रहा है। भारत में दुनिया के निर्धनतम लोगों ने कुछ समृद्धतम कॉर्पोरेशनों का रास्ता रोकने के लिए लड़ाई लड़ी है।

बढ़ता पूंजीवादी संकट

पूंजीवाद संकट में है। ट्रिकल-डाउन असफल हो गया है। अब गश-अप भी संकट में है। अंतर्राष्ट्रीय वित्तीय आपदा बढ़ती जा रही है। भारत की विकास दर कम होकर 6.9 प्रतिशत हो गई है। विदेशी निवेश दूर जा रहा है। प्रमुख अंतर्राष्ट्रीय कॉर्पोरेशन पैसों के विशाल ढेर पर बैठे हैं, समझ नहीं आ रहा है कहां पैसा निवेश करें, यह भी समझ नहीं आ रहा कि वित्तीय संकट कैसे खत्म होगा। वैश्विक पूंजी के भीमकाय रथ में यह एक प्रमुख संरचनात्मक दरार है।

पूंजीवाद के असली 'गोरकन' शायद उसके भ्रांतिग्रस्त प्रमुख साबित हों, जिन्होंने विचारधारा को धर्म बना लिया है। उनकी कूटनीतिक प्रदीप्ति के बावजूद उन्हें एक साधारण-सी बात समझने में परेशानी हो रही है: पूंजीवाद धरती को तबाह कर रहा है। विगत संकटों से उसे उबारने वाली दो युक्तियां- जंग और खरीदारी- काम नहीं करने वाली है।

एंटिला के सामने खड़े होकर मैं देर तक सूर्यास्त होते देखती रही। कल्पना करने लगी कि वह ऊंची मीनार जितनी जमीन से ऊपर है उतनी ही नीचे भी। कि उसमें सत्ताइस-मंजिल लंबा एक सुरंग मार्ग है जो जमीन के अंदर सांप जैसा फैला है। यह भूखों की भांति धरती से संपोषण खींचे जा रही है और उसे धुएं और सोने में बदल रही है।

अंबानियों ने अपनी इमारत का नाम एंटिला क्यों रखा? एंटिला एक काल्पनिक द्वीप-समूह का नाम है जिसकी कहानी आठवीं सदी की एक आइबेरियाई किंवदंती से जुड़ी है, जब मुसलमानों ने आइबेरियाई प्रायद्वीपया हिस्पेनिया पर जीत हासिल की, तो वहां राज कर रहे छह विथिगोथिक ईसाई पादरी और उनके पल्लीवासी जहाजों पर चढ़ कर भाग निकले। कई दिन या शायद कई हफ़्ते समुद्र में गुजारने के बाद वे एंटिला द्वीप-समूह पर पहुंचे और उन्होंने वहीं बस जाने और नई सभ्यता तैयार करने का फैसला किया। बर्बर लोगों

द्वारा शासित अपने देश से पूरी तरह संबंध तोड़ डालने के लिए उन्होंने अपनी नावें जला डालीं।

अपनी इमारत को एंटिला कहकर, क्या अंबानी अपने देस की गरीबी और गंदगी से संबंध तोड़ डालना चाहते हैं? भारत के सबसे सफल अलगाववादी आंदोलन का क्या यह अंतिम अंक है? मध्यम और उच्च वर्ग का अगल हो कर बाहरी अंतरिक्ष में चले जाना?

जैसे-जैसे मुंबई में रात उतरने लगी, कड़क लिनन कमीजें पहने और चटर-चटर करते वाकी-टाकी लिए सुरक्षाकर्मी एंटिला के आतंकित करनेवाले फाटकों के आगे नमूदार हुए। रौशनी जगमगाने लगी, शायद भूतों को डराने के लिए। पड़ोसियों की शिकायत है कि एंटिला की तेज रौशनी ने उनकी रात चुरा ली है। शायद वक्त हो गया कि अब हम रात को वापिस हासिल करें।